भूमिका

सामान्यजन की सहज, सरल, स्वाभाविक जीवनवृत्ति ही लोकजीवन है। यह मात्र ग्रामीण जीवन तक सीमित न होकर प्राकृतिक परिवेश में रहने वाले उन लोगों तक विस्तृत है जिन्हें अपनी धरती से अपार स्नेह और लगाव होता है। लोक का मानव समाज अपनी परंपराओं में प्रचलित रीति-नीति, खान-पान, रहन-सहन के साथ-साथ आदिम विश्वासों के प्रति आस्थावान भी रहता है। लोक जीवन में हमें आज भी अतीत के ऐसे-ऐसे सूत्र बिंदु ढूढ़ने पर मिल जाएंगे जिनके बुनियाद पर ही आधुनिक जीवन स्वरूप का निर्माण हुआ। समृद्ध लोक जीवन का निर्माण महज कुछ वर्षों में न होकर युग-युगांत से चले आ रहे लोक-मनीषियों के जीवन-अनुभवों एवं दुरूहपूर्ण खोजों के फलस्वरूप ही हुआ। आज जो भी लोक के अमूल्य तत्त्व हैं जिन पर लोग लूक की तरह टूट पड़ते हैं उन गीतों, धुनों एवं नृत्यों का निर्माण श्रम के परिहार हेतु हुआ। लोक जन हमेशा से कर्मठ, ईमानदार और संवेदनशील रहे हैं जो एक दूसरों के कार्यों में सहयोगात्मक भूमिका अदा करते रहे हैं साथ ही परंपरा विश्वास को भी बनाए रखते हैं, लोक की तमाम व्यावहारिक बातों ने शास्त्री य नियमों की धज्जियां उड़ाकर अपने को प्रतिष्ठित किया है। लोक में कोई चीज धारणा या मान्यता तभी बनती है जब उसे असंख्य लोगों के अनुभूतियों का समान प्रमाणपत्र मिले। लोक की भी अपनी एक सत्ता होती है लेकिन सबसे दीगर बात यह है कि लोक की सत्ता के मालिक कोई एक या दो चार लोग नहीं, लोक में निवास करने वाले सभी लोग होते हैं । सबकी बातों का समान महत्त्व होता है । सबके अनुभवों की पूछ परख होती है । शास्त्र अपने को चाहे जितना सुसंस्कृत, सुव्यस्थित, संस्कारित माने उसकी बोझिल साँसों को आराम लोक की घनी छाया में ही मिलती है। जहां वह लोक के एक-एक गीतों, धुनों, शब्दों पर अपने संपूर्ण ज्ञानमयी घटाटोप को न्योछावर कर जाता है। लोक की सहजता व सरलता में वह कौन सी चुंबकीय क्षमता है कि शास्त्र की चौहद्दी फांदकर सभी कलाएँ लोक की गोद में आकर सिमटने को व्याकुल रहती हैं, इसे बताया नहीं जा सकता। ये कलाएँ लोक जीवन, लोक संस्कृति को न केवल अपनाती है अपितु अपने को पूर्णतया उसी रंग में रंग भी लेती हैं । तमाम सुविधा संसाधन को पाकर अस्थिर आज के मानव मन को कोई लोकगीत, लोक-धुन बजकर जो सुकून दे जाती है वह ढेरों सुख सुविधाएं नहीं दे पाती, मूलतः यही लोक जीवन का सार है एवं यही उसकी अर्थवत्ता है- जो मानव को मशीन नहीं मानव के रूप में देखता है। लोकजीवन सभी कलाओं के आकर्षण का केंद्र रहा है । प्रचार प्रसार की सुविधा एवं तकनीकी सक्षमता के चलते सिनेमा आज अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम बन चुका है जिसने लोक जीवन के संरक्षण, संवर्धन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

बचपन से ही हिन्दी फिल्मों के प्रति मेरा रुझान रहा है विशेषकर ग्रामीण परिवेश की फिल्में ज्यादा आकृष्ट करती रही हैं। अब चाहे वह मेरे खुद के गाँव से होने से रहा हो या

अपनी माटी से स्नेह के चलते। शोध का सुअवसर प्राप्त होने पर मैंने लोकजीवन की फिल्मों को ही शोध का विषय बनाया क्योंकि फिल्मों ने जितनी समग्रता, सूक्ष्मता और कलात्मकता से लोकजीवन को अभिव्यक्त करने का साहस किया है उतना साहित्य और अन्य दूसरी विधाओं ने भी नहीं। सिनेमा की पहुँच एक तो आम जन मानस तक है दूसरा यह कि एक साथ कई लोग इससे जुड़ सकते हैं, लाभ उठा सकते हैं।

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध में लोक जीवन को दर्शाती हिंदी फिल्मों का ही अध्ययन प्रस्तुत किया गया है और यह देखने का प्रयास किया गया है कि कहाँ तक, किस स्तर तक हिंदी फिल्मों ने लोक जीवन को अभिव्यक्त किया है। सिनेमा अपने प्रारम्भिक चरण से ही लोक का आग्रही रहा है। सिनेमा में गीत, संगीत, नृत्य/ नाट्य का चलन लोक के ही फलस्वरूप आया। लोक की दुरूहता, कष्ट और दुख में गीत, संगीत की स्रोतस्विनी बहती रहती है जो उनके दुखों कष्टों का परिहार करती चलती है। लोक में न केवल जन्म, विवाह, गृहागमन जैसे मांगलिक कार्यों के गीत हैं अपितु मरण, विदाई, विरह के भी गीत हैं। खेतों में फसल की बुआई से लेकर कटाई तक के गीत हैं जो कार्य की दुरूहता को कम करते चलते हैं। जब हिंदी सिनेमा ने लोक को पर्दे पर जीवंत किया तो लोक के ये सभी तत्त्व सिनेमा में आ गए जो आज इसके अनिवार्य तत्त्व बन गए हैं। लोक जीवन को उसके सांस्कृतिक स्वरूप में व्यक्त किया ही गया, साथ में लोक- नायकों को भी पर्दे पर जीवंत किया गया है। स्वतंत्रता-पूर्व लोक जीवन को अभिव्यक्त करने वाली फिल्मों में सर्व प्रमुख नाम हिमांशु राय निर्मित 'अछूत कन्या' का आता है। फिर लोक जीवन को आधार बनाकर 'किसान कन्या', 'रोटी', 'अछूत', 'धरती के लाल' जैसी फिल्में आईं जिनमें लोक गीत, संगीत, नृत्य, भाषा की छवियाँ देखी जा सकती हैं।

स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी फिल्मों में 'दो बीघा जमीन', 'मदर इंडिया', 'गंगाजमुना', 'मुझे जीने दो' 'तीसरी कसम', 'अंकुर', 'निशांत', 'नदिया के पार', 'दामुल', 'लगान', 'पीपली लाइव', जैसी लोक संस्कृति, गीत, संगीत, नृत्य, भाषा को ज्यादा सशक्तता से उठाने वाली फिल्में आयीं जिनमें ग्रामीण परिवेश की समस्याओं, सरोकारों, जड़ताओं, विद्रूपताओं, विडंबनाओं की गहराई से पड़ताल तो की ही गई है साथ-साथ लोक जीवन के सहज स्वरूप को व्याख्यायित भी किया गया है। इन सभी फिल्मों में लोक के विभिन्न सेड्स देखे जा सकते हैं।

लघु शोध- प्रबंध की सीमा में सभी फिल्मों पर विस्तृत विचार-विश्लेषण करना संभव न होने के कारण लोक जीवन को बहुआयामी और बहुकोणीय दृष्टि से गहराई से दर्शाने वाली तीन फिल्मों – 'मदर इंडिया', 'तीसरी कसम' 'नादिया के पार', को व्याख्या एवं विश्लेषण का विषय बनाया गया है। ये तीनों फिल्में लोक जीवन की विषयगत विभिन्नता एवं लोकरंग

की अलग-अलग छटा के चलते ज्यादा ग्रहणीय लगीं जिनमें लोक जीवन के सारे पहलुओं व तत्त्वों के आलोक में इनका विस्तृत अध्ययन, विश्लेषण किया गया है।

यह लघु शोध-प्रबंध तीन अध्यायों में विभक्त है। **प्रथम अध्याय** में लोक-जीवन की अवधारणा एवं उसके स्वरूप को दर्शाया गया है साथ ही उसके प्रमुख तत्त्व लोक संस्कृति, लोकगीत, लोक-संगीत, लोक नाट्य/नृत्य, लोक भाषा की क्रमवार ढंग से व्याख्या करते हुए उसमें अंतर्निहित तथ्यों की पड़ताल की गई है। **द्वितीय अध्याय** में लोक जीवन को दर्शाती हिंदी फिल्मों की चर्चा की गई है । अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इसे स्वतंत्रता पूर्व हिंदी फिल्मों में अभिव्यक्त लोक-जीवन और स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी फिल्मों में अभिव्यक्त लोक-जीवन इन दो उपखंडों में बांटकर उसमें उपस्थित लोक-जीवन को लोक के प्रमुख तत्त्वों के आलोक में अध्ययन किया गया है। **तृतीय अध्याय** में फिल्म 'मदर इंडिया', 'तीसरी कसम','नदिया के पार' के लोक जीवन को लोक संस्कृति, लोकगीत, संगीत नृत्य/ नाट्य एवं लोक भाषा जैसे लोक के तत्त्वों को आधार बनाकर अध्ययन विश्लेषण एवं विवेचन किया गया है।

यह लघु शोध प्रबंध एक अंतरानुशासनिक विषय से संबद्ध है। एक तरफ अपनी प्रखर अभिव्यक्ति क्षमता और तकनीकी कुशलता के साथ हिंदी सिनेमा है तो दूसरी तरफ लोक संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों (गीत, संगीत, नृत्य/ नाट्य एवं भाषा) को अपने में समेटे लोक जीवन है जिससे इस विषय की निर्मिति एक व्यापक फलक पर होती है अतः समाज वैज्ञानिक और आलोचनात्मक शोध प्रविधि के आलोक में लोक जीवन को अभिव्यक्ति करती हिंदी फिल्मों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है।

इस लघु शोध प्रबंध को आकार देने, इस स्वरूप में प्रस्तुत करने में मेरे निर्देशक प्रो. सुरेश शर्मा का स्नेहिल मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है जिससे मुझे समुचित दिशा मिल सकी साथ ही मैं डॉ. ओमप्रकाश भारती का भी आभारी हूँ जिनका प्रोत्साहन एवं सहयोग मिलता रहा। कथाकार संजीव का विशेष आभार जिन्होंने हिंदी सिनेमा और लोक को समझने के सूत्र दिए। इस लघु शोध प्रबंध में सहयोग करने वाले अग्रज अविचल गौतम, राहुल, अफसर हुसैन, विद्यासागर सिंह, गोविंद वर्मा एवं अपने मित्रों रोहित, मनीष, रवीन्द्र, प्रदीप, ,गौरव, संतोष, अमोल, सर्वेश, जगदीश, प्रवेश, आशीष, दीपेन्द्र, सतेन्द्र के प्रति विशेष आभार जिनके सहयोग के बिना शायद यह लघु शोध-प्रबंध इस रूप में नहीं आ पाता।

अमरेन्द्र प्रताप सिंह

प्रथम अध्याय

लोक जीवन की अवधारणा एवं स्वरूप

'लोक' शब्द देववाणी संस्कृत के 'लोक दर्शने' धातु में घञ प्रत्यय लगाने से बना हुआ है।[1] इस धातु का अर्थ देखना होता है। 'लोक' शब्द के लट्लकार अन्य पुरुष एकवचन का रूप 'लोकते' है अत: इसका अर्थ हुआ 'देखने वाला'। इस तरह से वह समस्त जन समुदाय जो इस कार्य को करता है 'लोक' कहा जायेगा। 'लोक' शब्द अत्यन्त पुरातन है, ऋग्वेद में इसका अभिप्राय साधारण जनता से है, जिसका प्रयोग कई बार किया गया है। कहीं- कहीं पर लोक के लिए 'जन' का प्रयोग मिलता है।[2]

उपनिषदों में अनेक स्थानों में 'लोक' शब्द व्यवहृत हुआ है संस्कृत के वैयाकरण पाणिनी ने 'वेद' से पृथक लोक की सत्ता को माना है उन्होंने अनेक शब्दों को वेदों से इतर लोक व्यवहार के आधार पर समझने पर बल दिया है। वररुचि ने अपने वार्तिकों में भी 'लोक' शब्द का प्रयोग किया है। और इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि अमुक शब्द का लोक में अनेक रूप में व्यवहार होता है।

नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरतमुनि ने अपने ग्रंथ के चौदहवें अध्याय में अनेक नाट्यधर्मी और लोकधर्मी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। मध्यकालीन आर्यभाषाएँ- प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य में भी 'लोक जत्ता' 'लो अप्पवाय' आदि शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है। सम्राट अशोक ने अपने शिला लेखों में बौद्ध धर्मप्रचार के निमित्त संपूर्ण प्रजाजनों के अर्थ में 'लोक' शब्द का प्रयोग किया है। हिंदी साहित्य के 'मध्यकाल' में भी संतों ने लोक शब्द का प्रयोग वेद के समानांतर धारा के रूप में तथा इहलोक और परलोक के अर्थ में किया है-

'सरजू नाम सुमंगल मूला। लोक वेदमत मंजुल कूला।'

[1] सिद्धांत कौमुदी, (वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1989). पृ. 417

[2] ऋग्वेद 3/53/12

'इनसॉइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के अनुसार- "फोक' का तात्पर्य आदिम जाति के लोगों का समुदाय है।"[1]

उपर्युक्त कोशगत अर्थ को देखकर यह कहा जा सकता है कि 'लोक' शब्द विस्तृत, व्यापक और समष्टि के साथ संपूर्ण मानव समाज के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है, इसके साथ ही इसका दूसरा अर्थ यह ग्रहण किया जाता है कि जो लोग शास्त्री य विधान, संस्कारों की औपचारिकता तथा परिष्कृत अभिरुचि की कृत्रिम दुनिया से दूर रहकर नितांत अनौपचारिक, व्यवहारिक तथा पुरातन संस्कारों को जीते है इन्हें 'लोक' संज्ञा से अभिहित किया जाता है। अपने परम्परा के प्रवाह में जीवित ये (लोक के) मनुष्य समाज प्राय: गाँवों में रहते हैं , लोक शब्द को 'जन' और 'ग्राम' पदों से भी नामित किया जाता है, 'लोक' शब्द के व्यापक अर्थ विस्तार में 'जन और 'ग्राम' शब्द अन्तर्भुक्त हो जाते हैं।

लोक की भाव सामग्री और उसका मानसिक चिंतन वैज्ञानिक पद्धतियों की अपेक्षा नहीं करता और न किसी विशेष शिक्षा दीक्षा की, इसीलिए लोक पुस्तकीय ज्ञान से स्फूर्ति ग्रहण नहीं करता अपितु उसका अपना सृजनात्मक परम्परागत ज्ञान होता है। धर्म और आभिजात्य संस्कृति की ऊँची-ऊँची बातों से वह अछूता रहता हो यह बात भी नहीं है, किन्तु धर्म और आभिजात्य संस्कृति सदा उसकी पहुँच के अंतर्गत नहीं होती।

अत: वह एक ऐसी भूमिका तैयार करता है जहाँ पर उसे अपने मानस और भावना को सीधी अभिव्यक्ति मिले। विभिन्न लोक विश्वास, लोकाचार, रीति-रिवाज, स्थानीय देवी-देवताओं की पूजा, विभिन्न रुढ़ियाँ, कथा-कहानी, गीत- गाथा, लोकोक्तियाँ और अन्य भाव-संपदा लोक जीवन की प्राणवायु हैं। 'लोक' मनुष्य की प्राकृतिक और आदिम मनोभावों से सम्बद्ध है पर इसमें संशोधन परिवर्द्धन भी होते रहते हैं। लोक में पुराने विश्वास और लोकाचार नष्ट होते एवं नये विश्वास लोकाचार जुड़ते रहते है। लोकमानस इतना संवेदनशील और कल्पनाशील होता है कि नयी प्रथाएँ, नये लोकाचार, नयी अभिव्यक्ति प्रणाली ग्रहण करने में इसे कोई संकोच नहीं होता, लोक से जुड़कर ये चीजें उसके जातीय जीवन का अंग बन जाती हैं ।

'लोक' की व्याख्या करते हुए विद्वानों ने निम्नलिखित परिभाषाएँ दी है, डॉ. सत्येन्द्र लिखते हैं- "लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है, जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्री यता और

[1] हिंदी साहित्य कोश : (सं.) धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 591

पांडित्य की चेतना, पांडित्य के अहंकार से शून्य है, जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है।"[1]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "लोक' शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम्य' नहीं है बल्कि नगरों और गांवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृतिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारिता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती है उनको उत्पन्न करते हैं।"[2]

कृष्णदेव उपाध्याय ने 'लोक' के संबंध में अपना विचार प्रकट करते हुए लिखा है- "आधुनिक सभ्यता से दूर अपने प्राकृतिक परिवेश में निवास करने वाली तथा कथित अशिक्षित एवं असंस्कृत जनता को 'लोक' कहते, जिनका आचार-विचार एवं जीवन परंपरायुक्त नियमों से नियंत्रित होता है।"[3]

निष्कर्षत: उपरोक्त बातों और उल्लिखित परिभाषाओं के आधार पर कह सकते हैं कि जो अविच्छिन्न प्रवाह में रह के आचार विचार को पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक परंपरा से प्राप्त करता है आधुनिकता से थोड़ा दूर, प्रकृति से आत्मीय संबंध रखने वाला, अकृत्रिम, सहज और सरल अभिव्यक्ति वाला, शास्त्री य ज्ञान, पांडित्य बोध और वैयक्तिकता से सर्वथा भिन्न जन-समुदाय ही लोक है।

सामान्य जन के समस्त कार्य व्यापारों को लोक जीवन अपने आप में समेटे हुए रहता है, यह मात्र ग्रामीण जीवन तक व्याप्त नहीं है इसका क्षेत्रफल बहुत व्यापक है इसमें रहने वाले लोग प्रकृति के ज्यादा करीब सहज और सरल होते हैं जिन्हें अपनी धरती से अपार स्नेह होता है, लोक जीवन बहुत ही ज्यादा प्राकृतिक सहज, संवदेनशील एवं मिठास भरा होता है। लोगों के कष्टों में लोगों का सहयोग रहता है, त्याग, ममता, बलिदान, की भावनाएँ प्रबल रहती है।

लोक जीवन में त्योहार- पर्व, जादू- टोना, नाच- गाना, खेल सभी का अपने-अपने स्थान पर बराबर महत्व होता है, लोक के खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा बहुत ही सहज

[1] हिंदी साहित्य कोश : (सं.) धीरेन्द्र वर्मा, पृ.-591

[2] वही, पृ.-591

[3] लोक साहित्य की भूमिका, कृष्णदेव उपाध्याय, पृ.11

हुआ करते है, लोक का जीवन ज्यादातर प्रकृति प्रदत्त संसाधानों पर निर्भर रहता है।

लोक की सीमा, उद्देश्य, महत्व, प्रयोजनशीलता आदि को देखते हुए 'लोक' को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है। "लोक वह मनुष्य समाज है जो अपनी परम्पराओं में प्रचलित रीतिरिवाज, खान-पान, रहन-सहन, लेन-देन और आदिम विश्वासों के प्रति आस्थाशील होने से अशिक्षित कहलाता है।

लोक जीवन में मनुष्य जाति के साथ पुश-पक्षी, पेड़-पौधे, सभी का महत्व एवं स्थान हुआ करता है। लोक जीवन में श्रम के साथ गीत संगीत की उपस्थिति श्रम का परिहार करती चलती है। खेतों में फसलों की बुवाई से लेकर कटाई तक के गीत है, मौसम के अनुसार गीत है, मनोदशा के आधार पर गीत है जो कि लोक प्रमुखों द्वारा कालांतर में जीवन की दुरुहता को कम करने के लिए रचित प्रतीत होते है। अपनी नैसर्गिकता, सहजता और सरलता के चलते सभी को ग्राह्य लोक जीवन आज इस भूमंडलीकरण के दौर में हांफ रहा है, फैशनपरस्त, बनावटी एवं कृत्रिम शहरी जीवन ने लोक जीवन को विखंडित करना शुरु कर दिया है फलस्वरूप आज लोक संक्रमण के दौर से गुजर रहा है, फिर भी लोक जीवन परम्परा और लोक संस्कृति को बचाने के लिए कई लोग प्रयासरत हैं।

1.1 लोक- संस्कृति

लोक-संस्कृति सामान्य जन समुदाय की संस्कृति है, खेतिहर किसानों और मजदूरों की अभिव्यक्ति है। इसकी उत्सभूमि सामान्य जनता है। हरद्वारी लाल शर्मा का मत है- "लोक संस्कृति, सामान्य और मामूली लोगों की संस्कृति है, विशिष्ट वर्ग की संस्कृति नहीं, यह प्रकृति के समीपतम रहती है।"[1]

अशोक द्विवेदी लोक संस्कृति के केंद्र में कृषि जीवन के उछाह, उल्लास और श्रम-भावना को केंद्र में रखने के समर्थक है- "जो वन संस्कृति धीरे-धीरे किसान संस्कृति हुई सच मायने में वही लोक संस्कृति है... भारत की संस्कृति किसान समाज और उससे जुड़े श्रमजीवी और शिल्पी समाज की संस्कृति है, जो आपस के सहयोग, भाईचारे पर कायम है...जब तक

[1] . लोक साहित्य की भूमिका, कृष्णदेव उपाध्याय, पृ.11

'लोक संस्कृति' में सहभागी श्रम भावना, प्रेम की पूरकता रहेगी इस देश में कला, शिल्प, साहित्य और विचार दर्शन सभी क्षेत्र में लोक-गरिमा का ख्याल रहेगा, लोक संस्कृति में आत्मीयता का सहज प्रवाह है, कर्कश बुद्धि की जटिल रस हीनता और ठेलमठेल वाली प्रतिस्पर्धा नहीं है। लोक संस्कृति के वाहक खेतिहर और उसके श्रमिक शिल्पी समाज में एक दूसरे के सुख-दुख में शामिल होने की ललक, भलमनसाहत और कृतज्ञता का भाव रहता है।"[1] नंद किशोर आचार्य लोक संस्कृति को स्थानीय परिवेश की सृजनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में देखने के पक्षधर है- "लोक संस्कृति का अर्थ है मानवीय सर्जनात्मकता की स्थानीय परिवेश से प्रतिविशिष्ट अभिव्यक्ति।"[2]

लोक संस्कृति सामान्य आदमी को समझने की श्रमनिष्ठ, उत्सवधर्मी और सृजनात्मक परिणति है। लोक संस्कृति की निर्मित जिन बाह्य और अभ्यांतर तत्त्वों से होती है वे- लोक इतिहास, परम्पराएं, प्रथाएं, रीति-रिवाज, लोक विश्वास, लोक देवता, लोकधर्म, लोक संबंध, लोक व्यवहार, लोक साहित्य और लोक कलाएँ हैं। लोक सस्कृति से तात्पर्य उन सार्वभौमिक, सार्वकालिक तत्वों से है, जो हर देशकाल और परिस्थिति में लोक मस्तिष्क के कोशों में संचित हो जाते है तथा कला, साहित्य, संस्कृति और धर्म के माध्यम से लोक स्मृति में बने रहते हैं। ऐसे प्रीतिकर नियम जिन्हें एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी से सहर्ष अपनाने लगी, अपरिहार्य और जीवन को स्फूर्त करने वाले वे नियम परंपरा कहलाए। परंपराओं में पीढ़ियों का ज्ञानानुभव समाहित रहता है। इसमें प्रथाएँ और रीति रिवाज सन्निहित रहते हैं। इसकी स्वीकृति या अस्वीकृति का निर्णय समाज करता है।

लोक संस्कृति का मूल लोक-विवेक होता है, यही विवेक अपने अनंत रुपों में लोक संस्कृति के विभिन्न अंगों यथा-लोकगीत, लोकायन, कर्मकाण्ड में प्रवाहित होता हुआ जनता के दैनंदिन जीवन में आवृत्त होता रहता है। यही आवृत्ति उसे परंपरा एवं लोक स्मृति का रूप देती है। इस प्रकार लोक इतिहास और परंपरा लोक संस्कृति के महत्वपूर्ण अवयव हैं।

प्रथाएँ सहज रूप में मानी जाने वाली परंपराएँ हैं। इनका कोई लिखित रूप नहीं होता, ये मनुष्य के चरित्र को गढ़ती हैं ,संस्कारों को पुष्ट करती हैं ,जिससे संस्कृति का स्वरूप बनता है। प्रथाएँ] आस्था और विश्वास पर टिकी होती हैं । प्रथा परंपरा को निभाने का क्रियात्मक

[1] लोक साहित्य की भूमिका, कृष्णदेव उपाध्याय, पृ.19

[2] पाती (लोक संस्कृति, अंक): (सं. अशोक द्विवेदी, अंक: 14-15, पृ. 6-7

पक्ष रीति है और सामूहिक स्वीकृति रिवाज। रीति-रिवाज एवं प्रथाओं को मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तक के संस्कारों में स्पष्ट देखा जा सकता है। इसका पालन व्रत-त्यौहार, पूजा, अनुष्ठान, अतिथि सत्कार इत्यादि में किया जाता है।

लोक-विश्वास, वस्तु, घटना, प्रकृति व्यवहार, जीवन-मरण आदि से लेकर सूर्य, चंद्र, पृथ्वी, आकाश और जलवायु आदि तक फैली हुई व्यापक अवधारणा है, जिस पर सामान्य जन स्वाभाविक विश्वास करता है। जब कोई विश्वास व्यक्तिगत रूप से निकलकर समष्टिगत रूप धारण करता है तो वह लोक विश्वास बन जाता है। लोक संस्कृति, यात्रा के शकुनों और अपशकुनों का निर्धारण इसी लोक विश्वास से करती है। श्यामाचरण दूबे का मानना है कि जीवन मूल्यों के निर्माण और स्थायित्व में लोक-विश्वास की महत्वपूर्ण भूमिका होती है- "लोक विश्वास और दंत कथाओं में दृश्य और अदृश्य जगत के प्रति जनसाधारण का दृष्टिकोण प्रतिबिम्बित होता है। उनकी नींव पर ही समाज के आचार विचार आश्रित होते है। इन लोक विश्वासों में लोक जीवन की भौतिक धार्मिक चेतना का मूल स्रोत निहित रहता है। अंतत: ये मानव समुदायों के सांस्कृतिक दृष्टिकोण एवं जीवन मूल्यों को निर्धारित कर लोक-जीवन को स्थिरता और स्थायित्व देते हैं।"[1] लोक देवता लोक-संस्कृति के पोषक तत्व हैं। विभिन्न पर्व-त्योहार, व्रत-उपवास, धर्म, दान-पुण्य आदि द्वारा सामान्यजन लोक देवताओं का पोषण करता है।

लोक धर्म में संस्कृति के सारे तत्व जीवंत होते हैं और इनका स्वरूप मौखिक होता है, जो लोक व्यवहार और आस्था से बनता है। लोक धर्म सामूहिक उत्तरदायित्व और कर्तव्य पर टिका होता है। यह पाठ-पूजा, अनुष्ठान, व्रत-उपवास, तीज-त्योहार, यज्ञ,जादू-टोना, झाड़-फूंक, तंत्र-मंत्र आदि से अनुप्राणित होता है।

लोक-संबंध संस्कृति को मजबूत करते हैं और मनुष्य को एकता, स्नेह, पारस्परिक प्रेम और मर्यादा के धागों में पिरोते है। लोक संबंध समाज की रीढ़ है, जिसके आधार पर पूरा समाज खड़ा रहता है। इन्हीं संबंधों की व्याख्या लोक व्यवहार करता है। जिस समाज का जैसा लोक व्यवहार होगा उसकी संस्कृति का स्वरूप भी वैसा ही खड़ा होगा। लोक-व्यवहार का मुख्य काम है, नैतिक मूल्यों की रक्षा करना और मनुष्य को मर्यादित तथा संचयित बनाना, इसलिए यह लोक संस्कृति का अनिवार्य घटक हुआ। लोक-साहित्य और लोक कलाएँ किसी भी संस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण घटक होती है ये मनुष्य की सृजनात्मक अभिव्यक्ति हैं

[1] लोक : (सं.) पीयूष दईया, फलैप पर टिप्पणी

जिसका उद्देश्य आनंद और सौंदर्य की अनुभूति कराना तथा लोक जीवन के जड़ों को रसों से निरंतर अभिसिंचित करना है। लोक संस्कृति का निर्माण जिन अमर तत्त्वों से होता है, वे हैं- लोक विवेक, सामूहिक अनुभव, सामूहिक उत्तरदायित्व, आस्था, विश्वास, एकता, आत्मीयता, समायोजन और उदात्त मानवीय मूल्य।

लोक संस्कृति का अध्ययन करते समय जन-विश्वासों, मान्य जीवन-पद्धतियों और आदतों का अध्ययन करना पड़ता है, जो किसी जाति या जन समूह के बीच काम करना चाहते हैं उनको रुचि पूर्वक उस समूह या जाति की संस्कृति के महत्वपूर्ण तत्वों से अवगत होना आवश्यक है, क्योंकि वे व्यक्ति के जीवन निर्माण की विधायिका शक्ति होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति और जाति की अपेक्षाओं की पूर्ति करता है। जो इस लोक जीवन और उसकी संस्कृति की उपेक्षा करेगा या उससे कतराएगा वह उसके अंतरतम तक नहीं पहुँच सकता। यह अध्ययन मात्र बुद्धि विलास नहीं है, अपितु लोक जीवन को उसकी गंगोत्री में ही देखने का गम्भीर प्रयास है।

लोक संस्कृति का निर्माण किसी एक व्यक्ति के पुरुषार्थ का फल नहीं, अपितु असंख्य ज्ञात और अज्ञात व्यक्तियों के भगीरथ प्रयत्न का फल है। इन असंख्य व्यक्तियों की मानसिक और आध्यात्मिक उपलब्धियाँ सहस्राब्दियों से पूंजीभूत होती रही है, जो मनुष्यों के आध्यात्मिक पुनर्निर्माण में सहायक हो सकती हैं।

1.2.लोक–गीत, लोक-संगीत, लोक-नृत्य/नाट्य

लोक-गीत

लोक गीत लोक-वाड्मय की अनमोल थाती है जो लोक संस्कृति का संपूर्ण संवाहक है। लोक गीत हृदय की धड़कन है, जो जन्म, मरण, मंगनी-विवाह, मुंडन,जनेऊ, पर्व-त्योहार, धर्म-कर्म, हर्ष-विषाद, हास-परिहास, सुख-दुख, आदि अवसरों पर धड़कता रहता है।

लोक के अध्ययनकर्ताओं ने लोकगीत को निम्नलिखित रूप से परिभाषित किया है- "लोक गीत वस्तुत: वही हो सकता है, जिसमें रचयिता का निजी व्यक्तित्व नहीं होता वह लोकमानस से तादात्म्य रखता है और ऐसी व्यक्तित्वहीन रचना करता है कि समस्त लोक का व्यक्तित्व ही उसमें उभर आये और लोक उसे अपनी चीज कहने लगे। वह लोक का अपना

गीत होता है, जो परंपरा में पड़ जाता है और परंपरा उसमें समय-समय पर अनुकूल परिवर्तन करती रहती है।

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के अनुसार :- "This primitive spontaneous music has been called Folk Song."[1]

लोक गीत आदि मानव का उल्लासमय संगीत है। राम नरेश त्रिपाठी लोकगीत के लिए ग्रामगीत शब्द का प्रयोग करते है- "ग्रामगीत प्रकृति के उद्गार हैं इनमें अलंकार नहीं, केवल रस है, छंद नहीं केवल लय है, लालित्य नहीं केवल माधुर्य है। ग्रामीण मनुष्य के स्त्री पुरुषों के मध्य में हृदय नामक आसन पर बैठकर प्रकृति गान करती है। प्रकृति के वे ही गान ग्रामगीत हैं।...ग्रामगीत तो हृदय की अनुभूतियों के शब्द चित्र हैं वे सीधे हृदय से निकलते है।...ग्राम गीतों में मस्तिष्क का खेल बिल्कुल नहीं है, न छंद है, न तुक है, न मात्राओं की गिनती है। हृदय में जो भाव उत्पन्न हुए, वे आप से आप शब्द बनकर निकल आए हैं।"[2]

श्यामाचरण दूबे के मतानुसार- "लोकगीत सामान्य लोक जीवन की पार्श्वभूमि में अचिन्त्य रूप से अनायास ही फूट पड़ने वाली लयात्मक अभिव्यक्ति है।"[3] वहीं पर डॉ. सदाशिव फड़के का कथन है- " शास्त्रीय नियमों की विशेष परवाह न करके सामान्य लोक व्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव अपने आनंद तरंग में जो छन्दोबद्ध वाणी सहज रूप में उद्भृत करता है, वही लोकगीत है।"[4]

निष्कर्षतः लोकगीत मानव मन की अनुभूतियों की सरस रागात्मक अभिव्यक्ति है, जो सामूहिक चेतना द्वारा अभिव्यंजित है। लय और ताल जिसके अनुचर और सहचर है। जिसका रचनाकार, रचनाकाल, रचनास्थल अज्ञात है तथा जो कलम कागज जीवी न होकर कण्ठजीवी है।

लोक-गीत सामूहिक और सामाजिक रचना है। यह मौखिक परंपरा से आगे बढ़ती है और परिवर्तनशील होती है। लोकगीत में संगीत तत्व और गेयता होती है, तीव्र अनुभूति के कारण उनमें काव्यगुण प्राकृतिक रूप से आ जाते हैं। लोकगीतों का सौन्दर्य हमेशा चिर नवीन और चिरयौवन बना रहता है। लोकगीत सहज,सरल, स्वाभाविक और लोक भाषा में होते हैं।

---

[1] पाती (लोक संस्कृति, अंक): (सं. अशोक द्विवेदी, अंक: 14-15, पृ. 5-6

[2] हिंदी साहित्य कोश : (सं.) धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 594

[3] धरती गाती है: देवेन्द सत्यार्थी, पृ. 177

[4] धरती गाती है: देवेन्द सत्यार्थी, पृ. 178

लोक-गीतों में नारी हृदय का निश्छल विराट रूप, मानव जीवन की विविध अनुभूतियाँ, प्रकृति का विस्तृत क्षेत्र, सुख-दुःख आदि की अभिव्यक्ति होती है। लोकगीतों में लोक कल्याण और मनोरंजन का भाव भी छिपा रहता है।

लोकगीतों की प्रकृति में विविधता होती है। ये गीत व्रत-त्योहारों, उत्सवों, संस्कारों, ऋतुओं आदि के अवसर पर गाये जाते है।

पुत्र जन्म-

इस अवसर पर गाए जाने वाले गीतों को सोहर कहते हैं ।

आधि राति गइले पहर राती, होरिला जनम लेले हो,
बाजे लागल आनन्द बधावा, महल उठे सोहर हो॥
सासु जी कहेली बहुअवा, ननद गाल चूमेली हो।
आरे ललना जेकर बारी बिअहुआ से हो दुलारेला हो।

विवाह:-

इसमें विवाह संबंधी सभी संस्कार के गीत रहते है, जैसे नेवता, मटिकोड़ा, हरदी, लावा भुँजाना,नहछू-नहावन,इमिली-घोटावन,परिछन,डोमकच,माडौ़-गड़ाना,कोहबर,द्वारपूजा,आज्ञा माँगना, लावा मिलाना, भाँवर, सिदूरदान आदि।

यथा-

'चुटकी सेनुरवा मँहग भइले बाबा,
चुनरी भइल अनमोल
चुटकी भर सेनुरवा के कारण बाबा,
छूटेला नगरिया तोहार।'

कजरी:-

यह वर्षा ऋतु का गीत है इसमें संयोग और वियोग श्रृंगार की प्रधानता रहती है।

'अरे रामा आयल सावन क महीना,
कि हरि नहिं अइलन ए हारी।'

चैता:-

बसंत के आगमन के साथ पुरुषों द्वारा गाया जाने वाला गीत हैं। इसमें पति-पत्नी के प्रेम-प्रसंग, रूठने और मनाने, व्यंग्य बाण आदि के प्रसंग अधिक मिलते है-

'अहो रामा सूतल रहली पिया संगे सेजिया हो रामा।
बाते बाते लगि गइले पियवा से रेरिया हो रामा।
आहो राम मूहँवा से निकलेला बोलिआ कुबोलिया हो रामा।
ताहि बोलिये, पियवा भइल बचरागिया हो रामा।'

होली (फाग) :-

होली उल्लास और आनंद का त्यौहार। इस अवसर पर है गाए जाने वाले गीतों में राम-सीता, राधा-कृष्ण और कहीं-कहीं शिव का भी वर्णन मिलता है -

'श्मसाने में होली खेलसू दिगम्बर,
भूत बटोरी पिचास बटोरी, अरुमुण्ड माला साथ॥'

'होरी खेले रघुवीरा अवध में, होरी,
केकरा हाथ कनकन पिचकारी, केकरा हाथ अबीरा।
राम के हाथ कनक पिचकारी, सीता के हाथ अबीरा।
होरी खेले रघुबीरा अवध में, होली...!

बारहमासा:-

यह पावस ऋतु का विरह गीत है। इसमें वियोगावस्था का मार्मिक वर्णन अभिव्यंजित रहता है। शिष्ट साहित्य में जायसी का 'बारहमासा' सर्वविहित है-

" सवनहो मोरा लेखे बैरी भइला, भादों भवन सोहावन न लागे,
आसिन मोहि ना सुहाई, कातिक कंत विदेस गइल हो, समुझि समुझि पछिताई।

लोक-संगीत:-

लोक गीतों की आत्मा लोकसंगीत है। लोक संगीत का प्रभाव शास्त्री य संगीत पर परिलक्षित होने से यह प्रतीत होता है कि शास्त्री य संगीत की उत्पत्ति लोक संगीत से हुई है। लोक जीवन का मनोरम प्रतिबिम्ब लोकगीत और लोक संगीत में दिखाई पड़ता है क्योंकि लोकगीतों में शब्दों और स्वरों के चयन में कृत्रिमता का अभाव रहता है। इनमें लोकजीवन का सरल चित्र उपलब्ध होता है। लोकगीत सरल, सुन्दर, अनुभूतिमय तथा संगीतमय होते हैं। शायद ही कोई ऐसा लोकगीत हो जो संगीत से अनुप्राणित न रहा हो।

लोक गीत में संगीत का बहुत ही ज्यादा महत्व होता है संगीत के बिना लोक गीत प्राण रहित शरीर के समान है, जल रहित सरिता के तुल्य है, फल से विरहित वृक्ष की तरह है। लोक गीतों का स्वास्थ्य व उनके आनंद का रहस्य उनके संगीत में अंतर्निहित है। अत: लोक संगीत का अनुसंधान लोक गीतों का एक अनिवार्य अंग है।

लोकगीतों को गाने का एक विशेष ढंग होता है जो इस विधि से पूरी तरह से परिचित नहीं हैं वे इसके गाने की पद्धति को नहीं समझ सकते। इन गीतों के गाने की विधियों का ज्ञान पूर्णरूप से तभी किया जा सकता है जब इन गीतों की स्वरलिपि तैयार कर ली जाय। लोक संगीत छंदशास्त्र के सांचे में ढालकर तैयार नहीं किये जाते अपितु इनका प्रवाह उस पहाड़ी नदी के समान होता है जो स्वच्छंद गति से बहा करती है। गीतों में छंदों का बंधन न होने के कारण उनकी कोई-कोई पंक्ति बहुत लम्बी कोई-कोई छोटी हो सकती है। परन्तु लोक गायक उन गीतों को गाते समय अक्षरों तथा मात्राओं को इस प्रकार से घटा बढ़ा लेते हैं कि छंद के भंग का बिल्कुल ही पता नहीं चलता। इन लोकगीतों में लघु और गुरू मात्राओं का नियम बड़ा ही मद्धिम होता है। अत: गाने के समय लोक गायक अपनी सुविधा के अनुसार कहीं लघु मात्राओं को दीर्घ कर लेते है और कहीं दीर्घ मात्रा को लघु। समवेत स्वर में गाते समय औरतें गीतों को इस प्रकार से गाती हैं कि अक्षरों अथवा मात्राओं की त्रुटि से उत्पन्न दोष का कुछ पता नहीं चलता। उदाहरण स्वरूप कुछ पंक्तियाँ-

"झूठ भइले सधुआ, झूठ वियफइया, झूठ भइले कागवा के बोल।

झूठ भइले बाभना के पतरा अ पोथिया, कि सइयाँ नाहीं अइलेह मोर।"

लोक गीतों में कहीं-कहीं गेयता के सौकर्य्य के लिए ह्रस्व का दीर्घ भी उच्चारण किया जाता है। छंद की गति कहीं त्रुटित न हो जाय, इसलिए यह परिवर्तन आवश्यक हो जाता है।
निम्नलिखित गीत की पंक्तियाँ देखे-

"उड़ल-उड़ल सुगा गइले कलकतवा कि जाई बइठेना,
मोर सामी जी के बगिया कि जाइके बइठे ना।
पगरी उतारि सामी जाँघ बइठवले कि कह सुगना,
मोर घर के कुसलतिया कि कह सुगना।
माई तोहरा कुटनी बहिनी तोरि पिसनी.... ।

संगीत शास्त्र की दृष्टि से लोक गीतों का महत्व अत्याधिक है। ग्रामीण जनता के हृदय की अभिव्यक्ति में शब्द और स्वर इन दोनों का योग समान रूप से पाया जाता है। यद्यपि लोकगीतों में संगीत का सर्वांगपूर्ण शास्त्री य रूप नहीं पाया जाता परन्तु लोक-संगीत शास्त्री य संगीत से सर्वथा पृथक है ऐसा कहना ठीक न होगा। इन लोकगीतों में अधिकतर शास्त्री य

परंपरा के कहँरवा ताल, खेमटा ताल और जत ताल का प्रयोग पाया जाता है। जत ताल चौदह मात्राओं का होता है और खेमटा छ: मात्राओं का। कहँरवा ताल कुछ गीतों में चार मात्राओं का अधिक संगत प्रतीत होता है। कुछ अन्य गीतों में आठ मात्राओं का भी प्रयोग हुआ है। प्राय: सभी लोक गीतों में कुल चार थाटों का ही अंश उपलब्ध होता है ये चारों निम्नांकित है- विलावल, खमाज, काफी, भैरव।

लोक-धुने बहुत ही सरल होती है परन्तु इनकी सरलता का यह अर्थ नहीं कि इनमें गायन-क्रिया के सौंदर्यवर्धक उपकरणों का पूर्णतया अभाव होता है ऐसे अनेक लोक गायक उपलब्ध होते हैं, जो सरल से सरल धुनों को गाते समय भी स्वभावत: अनेक प्रकार के खेमटे, मुकरियाँ और मींड का प्रयोग अनायास करते है। शास्त्री य संगीत में प्राप्त अनेक रागों का जन्म लोक धुनों से हुआ है, ऐसा कहना कुछ अतिउक्ति न होगी। आसावरी, झिंझोटी और पहाड़ी आदि रागों का मूल स्रोत लोक-धुनों में खोजा जा सकता है।

लोक-साहित्य के विद्वानों का यह परम कर्तव्य है कि गीतों के संकलन के साथ वे उन गीतों में निहित संगीत को सुरक्षित करने के लिए उनकी स्वर लिपि अवश्य ही तैयार कर लें। उचित तो यह है कि गीतों को संगीत के संरक्षण के लिए टेप रिकार्ड कर लिया जाए। जब हम किसी गीत को स्वर लिपि की कारा में बांध लेते हैं तब हमें निश्चय ही यह विश्वास हो जाता है कि इसके संगीत की रक्षा हो गई है।

लोकसंगीत के क्षेत्र में सबसे महत्व पूर्ण कार्य डॉ. आशुतोष भट्टाचार्य का है। अन्य विद्वानों ने भी लोक संगीत पर महत्वपूर्ण कार्य किये हैं, हमें लोक संगीत का संरक्षण करना चाहिए जिससे हम अपने धरोहर को संरक्षित कर आने वाले दौर में उससे ज्यादा से ज्यादा लाभ एवं आनंद उठा सके।

लोक-नृत्य/ नाट्य

भारतीय नाटक का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। भरतमुनि कृत 'नाट्य शास्त्र' में लोक का विशद वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त धनंजय के दशरूपक तथा विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' में इसके संबंध में बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध होती है।

वेदों के पठन-पाठन का अधिकार सभी को नहीं था अत: पंचम वेद की रचना अत्यंत आवश्यक प्रतीत होने पर सभी वेदों से उनके प्रमुख तत्व लेकर ब्रह्म ने 'नाट्यवेद' की रचना की। नाट्यवेद निर्माण सभी वर्णो के लिये किया गया था, इसके निर्माण का प्रधान कारण जन-

मन का अनुरंजन था, अत: विदित है कि नाट्य की अपील सार्वजनिक होती है तथा यह साधारण जनता के मनोरंजन का सबसे बड़ा साधन है। देश में मुसलमानी शासन के स्थापित होने के कारण साहित्य तथा नाट्यशास्त्र का ह्रास हुआ। मुस्लिम शासकों ने परंपरा से प्रयुक्त रंगशालाओं को नष्ट कर दिया जिस कारण नाट्य रचनाएँ बंद हो गयीं।

उत्तरी भारत में भक्ति आंदोलन का प्रवर्तन हुआ जिसके प्रधान प्रतिष्ठापक स्वामी बल्लभाचार्य थे। इन्होंने कृष्ण भक्ति का प्रचार किया, इनके अनुयायियों ने भागवत के दशम स्कंध की कथा को, जिसमें भगवान श्रीकृष्ण का जीवन चरित्र वर्णित है, अभिनय के माध्यम से जनता के सामने सजीव रूप में प्रस्तुत किया। श्रीकृष्ण की इसी प्रारम्भिक लीला ने आगे चलकर 'रास लीला' का रूप धारण किया जो आज भी मथुरा तथा वृन्दावन में बड़े प्रेम से खेली जाती है।

उत्तर भारत में रामलीला का प्रचार गोस्वामी तुलसीदास ने किया। उन्होंने सर्वप्रथम काशी में रामलीला करानी प्रारम्भ की। भक्ति आंदोलन के प्रभाव से उत्तर भारत में दो लोकधर्मी नाट्य परम्पराओं का जन्म हुआ।(1)-रामलीला (2)- रासलीला

बंगाल में चैतन्य महाप्रभु भगवान श्री कृष्ण की स्तुति का गान करते बेसुध हो जाते थे। भगवान की आराधना करते समय कीर्तन भी किया करते थे, चैतन्य ने काशी, प्रयाग, पुरी सभी स्थलों की यात्राएँ की। इनके साथ भक्तों तथा शिष्यों की मंडली भी यात्रा करती थी। धीरे-धीरे इन यात्राओं के भजन-कीर्तनों ने लोकनाट्य का रूप ले लिया, जिसमें श्री कृष्ण की लीलाएँ अभिनय के माध्यम से दिखलाई जाने लगी। बंगाल की 'यात्रा' या 'जात्रा' इसी कीर्तन का प्रचार है। 'दशावतार' तथा 'यक्षगान' में भी 'यात्रा' का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकनाट्यों का विकास धार्मिक आन्दोलनों से प्रेरणा प्राप्त कर हुआ है। लोक नाट्य की विशेषता उसके लोकधर्मी स्वरूप में निहित है। लोकजीवन से इनका अत्यंत घनिष्ट संबंध है। यही कारण है कि लोग जीवन से संबंधित उत्सवों, अवसरों तथा मांगलिक कार्यो के समय इनका अभिनय किया जाता है। विवाह के अवसर पर अनेक जातियों में स्त्रियाँ बरात विदा हो जाने पर स्वांग का अभिनय करती हैं।

दो तरह के लोक नाट्यों में प्रथम प्रहसनात्मक जन मन के अनुरंजन के लिए किसी ऐसी घटना को अभिनय का विषय बनाता है जिसे देख सुन कर दर्शक हँसते-हँसते लोट-पोट हो जायँ। लखनऊ तथा बनारस के भाँड ऐसे प्रहसनों के अभिनय में अत्यन्त प्रवीण समझे

जाते हैं जिनमें नृत्य का अभाव रहता है। दूसरे प्रकार के लोकनाट्य वे हैं जो किसी सामाजिक अथवा पौराणिक घटना को लेकर अभिनीत किये जाते हैं। इनमें संगीत नृत्य तथा अभिनय की त्रिवेणी प्रवाहित रहती है। भोजपुरी प्रदेश में प्रचलित 'बिदेसिया' लोकनाट्य इसका सुन्दर उदाहरण है। इसमें किसी विरहिणी स्त्री का चित्रण है जो अपना दु:खद समाचार किसी बटोही के द्वारा अपने परदेशी पति के पास भेजती है। इस नाटक को खेलने वाले अभिनय के साथ-साथ नृत्य भी करते जाते हैं, सम्भाषण के बीच-बीच में गीत भी गाते हैं। इस प्रकार गीत, नृत्य तथा अभिनय सब मिलकर ऐसा समाँ बाँधते हैं की दर्शकगण इस नाट्य को रात भर देखते हुये भी नहीं तृप्त होते।

लोक नाट्यों की भाषा बड़ी सरल तथा सीधी सादी होती है जिसे कोई अनपढ़ व्यक्ति भी आसानी से समझ सकता है। जिस प्रदेश या क्षेत्र में इन नाटकों का अभिनय होता है प्राय: नट लोग वहाँ की ही क्षेत्रीय बोली का प्रयोग करते है। इससे अभिनय समस्त जनता के लिये बोधगम्य हो जाता है। इनकी भाषा में किसी प्रकार की सजावट या बनावट नहीं होती। लोक नाट्यों के संवाद बहुत छोटे तथा सरल होते हैं। कहीं-कहीं तो प्रश्न तथा उत्तर दो तीन शब्दों में ही सीमित रहते हैं।

ग्रामीण जनता में लम्बा संवाद सुनने के लिए धैर्य नहीं होता अत: नाटकीय पात्र अपने संवादों को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में ही प्रयोग में लाते हैं। लोकनाट्यों का कथानक प्राय: ऐतिहासिक पौराणिक या सामाजिक होता है। धार्मिक कथावस्तु को लेकर भी अनेक नाटक खेले जाते हैं, बंगाल की 'जात्रा' और 'कीर्तन' का स्रोत धार्मिक है। राजस्थान में अमर सिंह राठौर की ऐतिहासिक कथा का अभिनय किया जाता है। केरल प्रदेश में प्रचलित 'यक्षगान' नामक लोकनाट्य का कथानक प्राय: पौराणिक होता है। उत्तर प्रदेश की रामलीला तथा रासलीला भगवान राम तथा कृष्ण की कथा से संबंधित है। नौटंकी तथा स्वांग की कथावस्तु समाज से अधिक संबंध रखती है। लोकनाट्यों में प्राय: पुरुष ही विभिन्न पात्रों का अभिनय करते हैं , स्त्री पात्रों का कार्य भी पुरुष ही संपादित करते हैं। जिन पात्रों की अवतारणा इन नाटकों में की जाती है वे समाज के चिरपरिचित व्यक्ति होते हैं - जैसे गाँव का मक्खीचूस बनिया, छैला युवक, खूसट बुड्ढा , दुष्ट सास, कुलटा स्त्री , शराबी पति, पाखंडी साधु, अत्याचारी अफसर आदि।

भारत के विभिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के लोकनाट्य प्रचलित हैं। उत्तर भारत की रामलीला, रासलीला (जिनकी चर्चा हो चुकी है) मध्य भारत (मालवा) का माच प्रसिद्ध

लोकनाट्यों में से है। माच शब्द 'मंच' का अपभ्रंश रूप है। मंच चारों ओर से खुला रहने के कारण इसमें नेपथ्य नहीं होता दर्शकगण कहीं से भी बैठकर नाटक की संपूर्ण गतिविधि को देख सकते हैं। माच की संवाद योजना, शब्द व्यंजना तथा अभिनय बहुत सुंदर होता है, संगीत इसका प्राण है।

राजस्थान में माच 'ख्याल' के रूप में प्रचलित है। इसका प्रारम्भ 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से माना जाता है। मालवा के माचों की परम्परा आरम्भ से ही अविछिन्न रूप से चली आ रही है। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में नाटकों का बड़ा प्रचार है। हाथरस की नौटंकी बड़ी प्रसिद्ध है। नौटंकी, जिसकी उत्पत्ति कुछ विद्वान 'नाटकी' शब्द से बतलाते हैं, का इतिहास बहुत पुराना है। उत्तर प्रदेश में 'नौटंकी' को 'स्वांग' भी कहते हैं। स्वांग ठेठ ग्रामीण मनोरंजन है। इसमें अश्लीलता का पुट होता है। ब्रज मंडल में खुले रंगमंच पर नौटंकी के ढंग पर 'भगत' होती है।

इसी तरह गुजरात में 'भवाई' महाराष्ट्र में तमाशा, ललित, गोंधल, बहुरुपि और दशावतार (जो मराठी रंगमंच के आधार है) दक्षिण भारत का यक्षगान (जो तमिल तेलूगू कन्नड़ भाषाभाषी क्षेत्र की ग्रामीण जनता में प्रचलित है) आदि प्रमुख लोकनाट्य हैं।

1.3 लोक भाषा

भाषा लोक चेतना का अंग होती है वह लोक से शक्ति पाती है। मानव के मन का अध्ययन करने के पश्चात पता चलता है कि उसकी सारी क्रियाओं पर, उसके अवचेतन मन के संचित सूक्ष्म संस्कारों का प्रभाव पड़ता है। चेतन मन की शक्ति परिमित होती है जबकि अवचेतन मन की अपरिमित।

लोक ही अवचेतन मन है उससे ही सारे मानवीय संस्कार और व्यवहार प्रेरणा लेते हैं । लोक मनुष्य के कार्य का समर्थन करता है। उसके चिंतन को मूल सूत्र उपलब्ध कराता है। मनुष्य स्वयं को व्यक्त करने के लिये जिन शब्दों का उच्चारण करता है उसको अर्थनिष्ठा लोक द्वारा ही मिलती है। सामाजिक व्यवहार के साक्षी, चिंतन के वाहक, अभिव्यक्ति के सूत्रधार जब शब्दों को अपने मुंह से बोलते हैं तो समाज के न जाने कितने अज्ञान अंधलोकों को चेतना की दिव्य आभा से प्रकाशित कर देते हैं। इतिहास, समाजशास्त्र और संस्कृति के न

जाने कितने रहस्य इन शब्दों के झीने परदे में छिपे पड़े हैं । इन रहस्यों का उद्घाटन अत्यंत आवश्यक और महत्वपूर्ण है। लोक के संदर्भ में लोक भाषा का अध्ययन करने से सांस्कृतिक इतिहास तो सामने आता ही है साथ में अध्ययन के क्षेत्र में आगे बढ़ने के सभी मार्ग भी खुल जाते हैं। उन्नीसवीं शती तक का हिंदी साहित्य वस्तुत: लोक भाषाओं का ही साहित्य है। साहित्य की भाषा बोलचाल तथा लोक की भाषा से भिन्न होती है। साहित्य की भाषा तत्समप्रधान व लोकभाषा तद्भव प्रधान होती है। लोक-भाषा अभिधात्मक होती है, इसमें वक्रता नहीं स्पष्टता होती है जो अनुभव किया जाता है वही कहा और समझा जाता है। लोक भाषा से व्यक्ति का संबंध माँ के दूध जैसा होता है।

लोक साहित्य की सुगंध भीनी- भीनी होती है। इसकी अनुभूति को देह के रोम-रोम अभिव्यक्त देने के लिए आतुर रहते है। शास्त्री यता इसी से हारी है, इसमें रचे जाने वाले गीत-संगीत सरल और प्रवाहमान होते हैं जो लोक मानस के तह में बैठ जाते हैं।

मोर, पपिहा, कोयल, बादल, बिजली, काजर, सैयां, सावन, भादों, उमरिया, बिरना, परदेशी, बलमुआ, नगरिया, सुरतिया, सनेहिया, उमरिया जैसे शब्दों को गीतों, नाट्यों में देखा-सुना जा सकता है। लोक-मानस द्वारा हर्ष-विषाद, मांगलिक पर्व, मेला, देवी-देवता, मिलन-बिछोह जैसे अनेक भावुक अवसरों पर अपनी लोक मर्यादा और संस्कृति का सहारा लेकर जो भी मौखिक लिखित संवेदनायें लोक शब्दों धुनों में पिरोयी गयी वो हमें आज लोक कंठ से सुनने को मिल जाती है। लोकधुन और लोकवाद्य अपने वैशिष्टय के कारण सम्मोहन के लिए जाने जाते हैं, इन सबकी अपनी एक अलग भाषा होती है, भावनात्मकता होती है, जिससे कि कोई भी अपनी माटी से अनुराग रखने वाला व्यक्ति प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता।

भारत के विभिन्न प्रदेशों में बोली जाने वाली लोकभाषाओं के अपने शब्द हैं जिनमें उस लोकमानस की सारी तारीफें छुपी है। शब्दों में व्याप्त अर्थ मात्र शब्द का बोध नहीं कराते अपितु संस्कृति को भी व्याख्यायित करते चलते हैं। लोकभाषाएँ मात्र बोलने चालने का ही माध्यम नहीं होती अपितु लोक भाषाओं में भी साहित्य की रचना की जाती रही है। लोक भाषाओं में निर्मित कथा, कविता, खेल, नाटक बहुत ही ज्यादा मार्मिक और यथार्थ लगते हैं। अवधी, ब्रज, बघेली, भोजपुरी, बांग्ला, मराठी आदि लोक भाषाएं है जिनमें विपुल साहित्य रचा गया है। इन भाषाओं का विपुल शब्द भंडार है। लोकभाषाओं में शब्दों की बहुत ही ज्यादा अधिकता रहती है । लोक भाषाएं लोक मानस के आकांक्षाओं का आईना होती हैं जिसमें लोक मानस का समूचा स्वरूप पूर्णतया दिखता है

द्वितीय अध्याय

हिंदी फिल्में और लोक जीवन

ग्रामीण परिवेश या ग्रामीण अंचल की प्राकृतिक, सहज और सरल जीवन संस्कृति को लोक जीवन कहते हैं, वैसे भी हमारे देश भारत की अधिकांश जनता गाँवों में निवास करती है, यहाँ कृषि और पशुपालन प्रमुख है। ग्रामीण परिवेश में पेड़-पौधों, जीव-जन्तुओं, पशु-पक्षियों, नदियों ,पहाड़ों, झरनों, झीलों, खेत-खलिहानों, बाग-बगीचों सभी की व्याप्ति रहती है सभी अपने-अपने स्थान पर स्थित एवं उपस्थित रहते हैं।

गांवों में आपसी संबंधों में रागात्मकता रहती है। शहर की कृत्रिमता और चकाचौंध से दूर गाँवों का जीवन सहज, सरल और शांतिमय होता है। लोक जीवन की सुन्दरता और सहजता को देखकर सभी कलाएँ यहाँ के जन-जीवन को अपने में समाहित करने की लिए आतुर रहती हैं। सिनेमा भी एक कला है जो अपने तरीके से लोक जीवन को व्यक्त करने के लिए प्रयासरत रहा है।

हिंदी सिनेमा ने अपनी शुरुआत धार्मिक फिल्मों से की, लेकिन शीघ्र ही उसने यह महसूस कर लिया कि केवल पारसी नाटकों के नकल पर बनने वाली धार्मिक फिल्मों के बल पर सिनेमा को दीर्घजीवी नहीं बनाया जा सकता है, नए विषय तथा जनता से जुड़े संदेश व सरोकार को फिल्मों के माध्यम से प्रस्तुत करना होगा, तभी आम जनता इससे अपना जुड़ाव महसूस कर सकेगी।

2.1- स्वतंत्रता के पूर्व की हिंदी फिल्मों में लोक जीवन:-

हिंदी सिनेमा के शुरुआती दौर में पारसी थियेटर का प्रभाव अधिक था, जिससे फिल्मों में कृत्रितमा हावी रही। गीत -संगीत का प्रयोग दर्शक को लुभाने के लिये किया जाता था। विदेशों से ज्ञान और तकनीक की शिक्षा ग्रहण कर लौटे कई निर्देशकों ने नयी धारा की फिल्मों का निर्माण किया। इन्होंने फिल्म को सामाजिक यथार्थ से जोड़ने का प्रयास किया,लोकमानस की पीड़ा, कष्ट, विसंगति, समस्या सभी को परदे पर दिखाने को ठाना।

हिंदी में लोक जीवन से जुड़ी पहली फिल्म बनाने का श्रेय निर्माता हिमांशु रॉय तथा निर्देशक फ्रेंज ऑस्टिन को दिया जाता है।"[1] यह फिल्म सन् 1936 में बनी 'अछूत कन्या' थी,

[1]पुनीत बिसारिया (पत्रिका) समसामयिक सृजन, अक्टूबर मार्च, 2012-2013, पृ. 115

इस फिल्म में दलित रेलवे चौकीदार दुखिया की पुत्री कस्तूरी (देविका रानी) का ब्राह्मण मोहन के पुत्र प्रताप (अशोक कुमार) से हुये प्रेम को दर्शाया गया है 'अछूत कन्या' में छुआछूत के अमानवीय कृत्य को बड़ी तीव्रता से उकेर कर उसकी भर्त्सना की गई थी प्रस्तुत फिल्म में प्रगतिशीलता यह है कि शुरुआती शत्रुता के बाद ब्राह्मण मोहन अपने पुत्र का विवाह दुखिया की कन्या से करने को तैयार हो जाता है पर अफवाह एवं कटुता फैलाकर समाज इस प्रयास को निष्फल कर देता है,इसमें ग्रामीण जन समुदाय की मानसिकता, रूढ़िवादिता, वैमनस्यता को गहरे से दिखाया गया है। इसी वर्ष आई फिल्म 'नैया' में रूढ़िवादिता को दिखाया गया, प्रस्तुत फिल्म एक तवायफ की बेटी के जीवन संघर्ष की कहानी है। इस फिल्म में उन तमाम बातों पर प्रश्न चिन्ह लगाया गया जो समाज को जड़ता तथा वैमनषता की ओर ले जाते है।

अगले वर्ष सन् 1937 में मशहूर अफसानानिगार सआदत हसन मंटों की कहानी पर आधारित 'किसान कन्या' फिल्म आई जिसके निर्देशक मोती गिडवानी थे। यह फिल्म टिपिकल मंटों की फिल्म थी जिसकी कहानी निर्धन शोषित किसान रामू तथा शोषक जमींदार गनी के इर्दगिर्द घूमती है। इस फिल्म में रामू पर गनी की हत्या का आरोप भी लगता है उसे दर-दर की ठोकरे खाने को विवश होना पड़ता है।

सन् 1939 में आई फिल्म 'रोटी' में निर्देशक ज्ञान मुखर्जी औद्योगिक सभ्यता तथा आदिवासी संस्कृति की तुलना अत्यंत प्रभावशाली ढ़ंग से करते हुए यह निष्कर्ष निकालते हैं कि न तो आदिवासी संस्कृति शहर में आकर सुखी हो सकती है न ही एक तबाह उद्योगपति आदिवासी सभ्यता में खुशियाँ हासिल कर सकता है, दोनों की मुक्ति अपने-अपने खोलों के भीतर ही है।"[1] सन् 1940 ई. में एक अत्यंत महत्वपूर्ण किन्तु वर्तमान में अप्रसिद्ध फिल्म 'अछूत' आई जो महात्मा गांधी के अछूतोद्वार कार्यक्रम से प्रभावित होकर बनायी गयी थी निर्देशक चन्दूलाल शाह ने इस फिल्म में लक्ष्मी नामक एक दलित स्त्री के जीवन की दारुण गाथा का वर्णन किया था जिसके पिता ब्राह्मणों द्वारा कुएँ से पानी न पीने देने पर ईसाई धर्म अपना लेते हैं, जबकि उसकी माँ हिन्दू बनी रहती है। बाद में लक्ष्मी तथा उसकी सहेली सविता दोनों ही एक धनी व्यक्ति से प्रेम करने लगतीं हैं, परन्तु सावित्री के पिता अपनी बेटी के स्वार्थ में पड़कर लक्ष्मी को उसके गाँव वापस भेज देते हैं, गाँव आकर लक्ष्मी का गाँव के दलित लड़के रामू से प्रेम हो जाता है, वे दोनों मिलकर गाँव में व्याप्त जातिवादी ऊँच-नीच तथा शोषण के विरुद्ध संघर्ष करते हैं। इस संघर्ष में रामू मारा जाता है, लक्ष्मी को जेल जाना

[1] पुनीत बिसारिया (पत्रिका) समसामयिक सृजन, अक्टूबर मार्च, 2012-2013, पृ. 116

पड़ता है लेकिन लक्ष्मी अपनी आवाज बुलंद रखती है और अंत में वह गाँव के कुंए को ब्राह्मणों के आधिपत्य से मुक्त कराकर दलितों को भी उसका उपयोग करने देने के अपने लक्ष्य में सफल होती है। सन् 1944 में फिल्म 'रतन' से नौशाद का फिल्म जगत में पदार्पण हुआ वे अपने साथ ढोलक,बंसी जैसे ग्राम्यांचल में प्रचलित संगीत वाद्यों को फिल्मों में लेकर आये। 1946 में महत्वपूर्ण फिल्म 'धरती के लाल' आई, जो कृश्न चंदर की कथा तथा बिजॉय चक्रवर्ती के नाटक पर आधारित थी, जिसके पटकथा लेखक तथा निर्देशक ख्वाजा अहमद अब्बास थे। यह फिल्म बंगाल के दुर्भिक्ष पर आधारित थी तथा इप्टा के कलाकारों द्वारा नाटक खेलकर अकाल पीड़ितों हेतु जिस प्रकार चंदा जुटाया गया था, उसका वास्तविक चित्रण इस फिल्म में हुआ था, इसी तरह की और अन्य फिल्में भी आई पर वे प्रसिद्ध न हो सकीं।

15 अगस्त सन् 1947 ई. को स्वतंत्रता प्राप्त होने एवं देश के संविधान का निर्माण होने पर भारतीय जनमानस में खुशी की लहर दौड़ गयी। शहर से लेकर गाँव तक सभी आजादी के खुले आसमान में विकास और उन्नति के सपने देखने लगे।

2.2- स्वातंत्रयोत्तर हिंदी फिल्मों में लोकजीवन

पराधीनता से मुक्त हुए देश में लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना हुई, गांधी जी के प्रभाव से सरकार ने गाँव-देहात के मजदूर-किसान की तरफ ध्यान तो दिया लेकिन अब भी गाँवों में सामंती व्यूह की रचना कमजोर नहीं पड़ी थी। अब भी किसान-मजदूर का जीवन कष्टमय था। अभिव्यक्ति के जितने माध्यम थे सभी ने किसानों-मजदूरों की दशा, गाँव की बदहाली पर अपने ढंग से बात रखी और सवाल भी उठाया। फिल्म भी अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम में से प्रमुख है फलत: उसने भी लोक मानस के कष्टों को अपने ढंग से उठाया।

सामाजिक सरोकार से संबंधित विषयों को उठाने वाले फिल्म निर्देशकों में विमल रॉय प्रमुख थे, जिन्होंने सन् 1953 में 'दो बीघा जमीन' फिल्म बनायी जो वास्तव में कृषक जीवन की कारुणिक कथा थी। हिंदी में 'गोदान' के बाद यदि किसानों की व्यथा कहीं अपने पूर्ण भयावह स्वरूप में आई है तो वह इस फिल्म मे, जिसमें साहूकार के कर्ज को चुकाने के लिए एक किसान को अमानुषिक परिस्थितियों से होकर गुजरना पड़ता है।

'दो बीघा जमीन'

'दो बीघा जमीन' एक ऐसे किसान की कहानी है जो गाँव का सुखी किसान है, क्योंकि उसके पास खुद की जमीन है जिसमें पूरा परिवार मेहनत से खेती करता है। गाँव का जमींदार सारी जमीन एक उद्योगपति को बेंच देना चाहता है, इसमें शंभू की 'दो बीघा जमीन' बांधा बन रही है। जमींदार शंभू को बुलाकर कहता है कि 'उस पर दो सौ पैंतीस रूपये का जो कर्ज है कल तक उसको चुका दे।' परन्तु अदालत उसे जमींदार का कर्ज चुकाने के लिए तीन माह का समय देती है। शंभू अपनी पत्नी व बूढ़े बाप को गाँव में ही छोड़कर पैसा कमाने कलकत्ता जाता है। रेलगाड़ी में शंभू का बेटा कन्हैया पहले से ही अपने पिता से छुपकर बैठा रहता है। शंभू के लाख मन करने पर भी वह नहीं मानता और साथ चला जाता है। पिता-पुत्र दोनों कड़ी मेहनत करते हैं और बीमार हो जाते हैं, फिर भी अपने काम में जुटे रहते हैं। इन प्रसंगों में विमल राय ने कलकत्ता शहर के चरित्र को उजागर किया है "यह कलकत्ता एक उजड़े हुए गैर-बँगाली किसान की आंखों से देखा गया कलकत्ता है, जो इस शहर में पैसा कमाने तथा पूँजीपति जमींदार से अपनी जमीन छुड़वाने आया है। यह फिल्म शहर को अस्थायी मजदूर तथा सर्वहारा के दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करती है। जी तोड़ मेहनत तथा ईमानदारी से काम करने के बाद भी शंभू और कन्हैया अपनी जमीन नहीं बचा पाते। जब वे गाँव लौटते हैं तो उनकी जमीन नहीं बचती, उस पर कारखाना लग चुका होता है। अपनी जमीन को न बचा पाने का दर्द उसके चहरे पर साफ झलकता है। किसान के लिए जमीन केवल खेती का साधन मात्र नहीं होती, बल्कि वह इसे मां की तरह देखता है। जब शंभू इस जमीन से एक मुट्ठी मिट्टी लेकर इसे अपने यादों में हमेशा के लिए संजो लेना चाहता है तो उसे इस अधिकार से भी वंचित हो जाना पड़ता है।[1]

फिल्म की लता के द्वारा गायी अभूतपूर्व लोरी जैसे दुनिया भर के गरीब भूखे-प्यासे बच्चों को भोजन का निमंत्रण देकर सुलाने का प्रयास कर रही हो। 'आ जारी आ निंदिया तू आ...' वही लोरी थी जिसने पीपल तले हवा को भी सुला दिया था, बस जाग रहा था तो वह मुन्ना, जिसे उसकी भूखी-प्यासी माँ लोरी सुनाकर सुलाने की कोशिश कर रही थी, गरीबों के घर बच्चे इसी तरह सुलाये जाते हैं। सलिल चौधरी का मद्धिम- मद्धिम बजता संगीत और उससे उपजती अविरल करुणा की सृष्टि, जिसे निर्देशक विमल रॉय के लिए अपने कैमरे से कमल बोस ने उभारा था, जो पूरी तरह उस परिवेश जीवंत कर देता है।

[1] सिनेमा के सौ बरस (सं) मृत्युंजय, पृ. 138

जिस तरह से गाँव की चौपाल को इस फिल्म में दिखाया गया वैसा दुबारा कभी देखने को नहीं मिला। ग्राम्य समाज दिन भर के दु:ख-दर्द, प्रताड़ना, कड़ी मेहनत और अभावों को चौपाल पर बैठकर गीत गाते-गाते भुला देता है। ढोलक की ताल पर समवेत स्वरों में गाँव के किसान-मजदूर जब अपनी वेदना को लोकगीतों में पिरोते हैं तब अभावों के समंदर भी मीठे हो जाते हैं। अपने दर्शन में डूबे उनके लोकगीत उनकी वेदनाओं के ही राग हैं। फिल्म के गीत-

'धरती कहे पुकार के, गीत गा ले प्यार के, मौसम बीता जाये, अपनी कहानी छोड़ जा, कुछ तो निशानी छोड़ जा, कौन कहे इस ओर, तू फिर आये न आये' मन्ना डे का आलाप अन्त में जब 'भाई रे' की गुहार के साथ दसों दिशाओं में गूंजता है तो प्रकृति मानो ठहर जाती है।

विमल राय ने जमींदारों के अत्याचारों को बड़े करीब से देखा था। किसानों व मजदूरों पर होने वाले अत्याचारों की गहरी पड़ताल की थी और फिर जब वे कलकत्ता आये तो बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के न जाने कितने किसानों को उन्होंने रिक्शा खींचते देखा। इस कलकत्ता में एक निरीह प्राणी दो-दो का बोझ उठाए भागता ही चला जाता है, उस पर कलकत्ता का ट्रैफिक जाम कहीं ट्राम, कहीं ट्रक, कहीं टेंपो, इन मौत की मशीनों के बीच से यह हाथरिक्शा वाला अपनी सवारियों को बचाता हुआ भागता ही जाता है। इनमें से जाने कितनों को तपेदिक, दमा और न जाने कौन–कौन सी बीमारियाँ जकड़ लेती हैं जिससे वे जिन्दगी भर लड़ते रहते हैं और कभी जीत नहीं पाते। लेकिन इनकी जिजीविषा इतनी जीवट होती है कि जिन्दगी के अंतिम समय में भी मेहनत करने से नहीं कतराते। ये लोग फुटपाथों पर, छोटी-छोटी झोपड़ियों में सारे कलकत्ते में पसरे हुये हैं। इन्हें लगता है कि गाँव के साहूकार के कर्जों की दवा कलकत्ता में हाथरिक्शा चलाना हो सकता है किन्तु ऐसा कहाँ? ब्याज भले ही चला जाय मूल तो कभी भी नहीं उतरता। जिंदगियाँ फुटपाथ पर ही दम तोड़ देती हैं। केवल सपनों में ही गांवों की हरी-भरी धरती इनका दिल बहला जाती है। दिन की दौड़-भाग और कर्जे का जोड़-तोड़ यही इनकी जिन्दगी का फलसफा बन जाता है।

'मदर इंडिया'

सन् 1957 ई. में आई महबूब खान की फिल्म 'मदर इंडिया' भारतीय सिने इतिहास की वह सशक्त फिल्म है जिस पर आज भी हम गर्व करते हैं। वे इसे आजादी की दसवीं वर्षगांठ 15 अगस्त 1957 को रिलीज करना चाहते थे परन्तु यह 25 अक्टूबर को प्रदर्शित हो सकी। 'मदर इंडिया' महबूब की फिल्म 'औरत' का ही विस्तार है जो एक ऐसी स्त्री की गाथा है जो अपने पति द्वारा उसे छोड़कर चले जाने के बाद स्वयं को टूटने से बचाती है, अपने बच्चों को

पाल पोसकर बड़ा करती है और अपनी स्वतंत्र अस्मिता भी बनाये रखती है । इस फिल्म ने भारतीय फिल्म इतिहास में ही नहीं बल्कि विश्व स्तर पर भी अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। इस फिल्म पर विस्तृत चर्चा हम अपने लघु शोध-प्रबंध के तृतीय अध्याय में विशेष संदर्भ फिल्म के अंतर्गत करेंगे।

'गंगा जमुना'

सन 1961 ई. में नितिन बोस के निर्देशन में दिलीप कुमार एवं वैजयंती माला के अभिनय से सुसज्जित फिल्म 'गंगा जमुना' आई जो लोक जीवन की सशक्त झांकी प्रस्तुत करती है। यह फिल्म जमींदार के अत्याचारों से विवश होकर एक भाई गंगा के डाकू बनने तथा दूसरे भाई के पुलिस अफसर बनने की कहानी है। फिल्म का अंत पुलिस अफसर जमुना द्वारा अपने डाकू भाई गंगा को गोली मार देने से होता है। भोले-भाले ग्रामीण किस प्रकार जमींदारों के क्रूर अत्याचार से कराहने को विवश हैं, इस फिल्म में दिखाया गया है।

गंगा जमुना पूरी तरह एक नाटकीय संरचना है। कथाक्रम का प्रस्तुतीकरण पूरी तरह लोकनाट्य की शैली में है, जिसमें राम लीला, रास लीला, नौटंकी, ठुमरी और गजल के प्रस्तुतीकरण के विविध रूप एक साथ मिलते हैं। इस फिल्म में लोकप्रिय हिंदी सिनेमा के सारे आयाम अत्यंत मधुर संगीत के साथ मौजूद हैं। शकील बदायूंनी ने 'नैन लड़ि जइहैं तो मनवा मा कसक होइबै करी..., 'ना मानूं ना मानूं ना मानूं रे...' ढूँढों ढूँढों रे साजना ढूँढों कान का बाला...' 'दो हंसो का जोड़ा विछड़ गयो रे...' 'इंसाफ की डगर पर बच्चों दिखाओं चलके...' जैसे सुन्दर गीत लिखे। उस पर लोक की मार्मिक, सहज, देशज मिठास से भरी नौशाद की धुने हृदय को आनंदित कर देती हैं।

फिल्म 'गंगा जमुना' दिलीप कुमार पर केन्द्रित भले ही रही हो लेकिन नायिका धन्नो की भूमिका में वैजयंतीमाला अपने सशक्त अभिनय के बल पर बाजी मार ले जाती हैं । दिलीप कुमार के छोटे भाई की भूमिका में उनके असली छोटे भाई नासिर खान ही थे जिन्हें उनके व्यक्तित्व के अनुकूल कर्त्तव्यपरायण, अन्तर्मुखी पुलिस वाले की भूमिका दी गई थी।

गंगा जमुना फिल्म को किस्सागोई की शैली में फिल्माया गया है। कहीं कोई कहन की प्रतीकात्मक शैली नहीं अपनायी गई है। फिल्मों में विराट कथाओं को फ्लैशबैक में चित्रांकित करने की पुरानी और लोकप्रिय परंपरा रही है, लेकिन यहां पर इसके उपयोग की आवश्यकता नहीं समझी गयी।

गंगा के बचपन से लेकर मरण तक की कहानी सीधी सरल रेखीय ढंग से बयान की गयी है। इसमें कोई बनावटीपन नहीं दिखता, नाटकीय प्रस्तुतीकरण के बावजूद इसमें अवधी, भोजपुरी भाषा का सुन्दर प्रयोग किया गया है। इस कारण ही यह फिल्म लोक की लगने लगती है। इस फिल्म के लिये कलाकरों ने विशेष रूप से भोजपुरी अवधी सीखा था। नाटकीय दृश्यों में निश्चित ही दिलीप कुमार और वैजयंतीमाला अपने चरम पर दिखाई देते हैं लेकिन संवादों की अदायगी की जो सहजता पंडित कन्हैया लाल में है वह सबसे बढ़कर है। गंगा जमुना ऐसी सुगठित रचना है जो आपको आनंदित करती है और आपके भीतर काई की परत की तरह जमी हुई कुंठाओं को धो-पोंछ कर साफ करती है। यह फिल्म जीवन की पराजय व निरर्थकता को दिखलाती चलती है और हारने के आनंद का जश्न मनाती है। एक-एक दृश्य, एक-एक चरित्र और घटनाक्रम की एक-एक पदचाप का सम्मिलित समग्र प्रभाव है यह फिल्म। गंगा जमुना फिल्म को बने पचास बरस हो गये, पर इस फिल्म के गीत-संगीत जनमानस से गायब नहीं हुए हैं।

'मुझे जीने दो'

लोक के एक अलग रंग को लिये मणि भट्टाचार्य की फिल्म 'मुझे जीने दो' सन् 1963 ई. में आई। अजंता आटर्स के बैनर तले बनी यह फिल्म डकैतों के वास्तविक जीवन पर आधारित थी। फिल्म में सुनील दत्त, वहीदा रहमान, निरूपमा रॉय, राजेन्द्रनाथ एवं मुमताज ने अभिनय किया था।

यह फिल्म चम्बल घाटी के डाकू बाहुल्य इलाके में मध्य प्रदेश पुलिस के सुरक्षा कवच में फिल्मायी गई। प्रस्तुत फिल्म में निर्देशक ने डाकुओं की सामाजिक समस्या को मानवीय दृष्टिकोण से देखने समझने और फिल्माने की ओर विशेष ध्यान दिया। जयदेव के संगीत ने बीहड़ों की जैसे नब्ज पकड़ ली हो और उसका हाल धुनों के माध्यम से व्यक्त कर रहे हों और उस पर साहिर लुधियानवी के शानदार बोल फिल्म में चारचाँद लगते हैं। फिल्म में ठाकुर द्वारा नाचने वाली को बलात उठा ले जाना, उस समय के समाज में मूँछ पर हाथ फेरने योग्य ही समझा जाता था। दरअसल मुझे जीने दो जनरैल सिंह उर्फ लाखन का इतिहास नहीं, चंबल की मानस प्रकृति का फसाना है। डोंगर, बटुरी, मानसिंह, रूप सिंह जैसे अनेक डाकुओं के चरित्र जनरैल सिंह में आकार लेते हैं।

चमेलीबाई में पुतलीबाई से लेकर श्यामाबाई और विद्याबाई मिली हुई हैं। 'नदी नारे न जाओ श्याम पैयां परु...' के रिकार्ड श्यामाबाई की आवाज में गाँव-गाँव में बजते थे। श्यामा

की नौटंकी का रेट उन दिनों दो हजार रूपय रोज था....' मोको पीहर में मत छेड़ रे बलमवां धर लै धीर जिगरिया में...' गाना गाकर नाचती विद्याबाई पर नोटों की बरसात होती थी। नौटंकी देखने बागियों के गिरोह भी आते थे। शादी वाले घर से उनको भोजन की व्यवस्था की जाती थी। लड़की की शादी में गिरोह की ओर से हैसियत के अनुसार सौ, दो सौ, पाँच सौ रूपये की भेंट भी दी जाती थी।

सामाजिक स्मृतियों के ताने बाने बड़े विचित्र होते हैं मदर इंडिया में डाकू बना सुनील दत्त जब लाला की बेटी का अपहरण करता है उस साहूकार या महाजन की बेटी को जो सारे गाँव की विपन्नता का क्रूर कारण होने के साथ कामुक भी है।...तब माँ ही अपने बेटे को गोली मार देती है क्योंकि यह सामाजिक मर्यादा के विरुद्ध था। वहीं हम देखते हैं कि मुझे जीने दो में नाचने वाली चमेली बाई के मादक हावभावों को लोलुप आंखों से ताकता दर्शक उसके जरनैल सिंह की पत्नी में बदलते ही आदर और सहानुभूति से देखने लगता है। एक स्त्री की उपस्थिति या कहें कि सकारात्मक साहचर्य एक क्रूर डाकू को मनुष्यता की ओर खींच लाता है, यही तो हासिल है मुझे जीने तो का।"[1]

'तीसरी कसम'

बासु भट्टाचार्य द्वारा निर्देशित तथा कवि शैलेन्द्र द्वारा निर्मित तीसरी कसम की पटकथा हिंदी के यशस्वी कथाकार फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने ही लिखे थे। राजकपूर और वहीदा रहमान के सशक्त अभिनय में सजी फिल्म लोक जीवन की परदे पर उतरी सबसे सशक्त फिल्म थी। इस फिल्म पर विस्तृत चर्चा अपने लघु शोध-प्रबंध के तृतीय अध्याय में विशेष संदर्भ फिल्म के अंतर्गत करेंगे।

'अंकुर'

सन् 1973 ई. में आई श्याम बेनेगल की पहली फिल्म 'अंकुर' ग्रामीण परिवेश के सामंती मूल्यों के खिलाफ खड़ी फिल्म है। 'अंकुर' समानांतर के शिल्प को ग्रहण करके भी मध्यवर्ग के जुड़ाव से अलग नहीं हो पाती और यह अहसास कराती है कि आजादी के इतने वर्षों के बाद भी भारत से सामंती उत्पीड़न का खात्मा नहीं हुआ है। इस फिल्म में ग्रामीण परिवेश की कड़वी सच्चाई प्रकट हुई है।

[1] हिंदी सिनेमा: बीसवीं से इक्कीसवीं सदी तक, पत्रिका (सं.) प्रो. कमला प्रसाद, पृ. 267

राजनीति के क्षितिज पर सत्तर का दशक 'गरीबी हटाओं' का था। भ्रष्टाचार से तंग भारतीयों में यह चर्चा थी कि ऊपर से एक रूपया नीचे तक आते-आते तीस पैस रह जाता है। विकास इसी तीस पैसे का नाम है। अंकुर का गरीब किसान (साधु मेहर) अनाज चोरी के मामले में पकड़ा जाता है। गाँव का जमींदार (अनंत नाग) उसके मुँह पर कालिख पोतकर उसे पूरे गाँव में गधे पर बिठाकर घुमाता है। वह गाँव का जमींदार उसकी पत्नी (शबारा आजमी) को अपनी गिरफ्त में ले लेता है। किसान की गर्भवती पत्नी जमींदार के कहने पर भी गर्भपात नहीं कराती है तो गुस्साया जमींदार साधु को सजा देता है इससे आहत होकर उसकी पत्नी जमींदार को बहुत कोसती है। जमींदार दरवाजा बंद किये हुए बेचैनी से सुन रहा है, इस दृश्य में जमींदार युवक के प्रति निर्देशक की थोड़ी सहानुभूति का बोध होता है उसे जिस रूप में दिखाया गया है यानि उस समय कैमरा से जो क्लोजअप अंकित होता है उससे जमींदार युवक में परिवर्तन जैसी अनुभूति होती है।

फिल्म के अंत में एक छोटा बच्चा जमींदार के घर पर पत्थर फेंकता है, खिड़की का कांच चटक जाता है, इसका अभिप्राय यह है कि नयी पीढ़ी को जमींदार की बेचैनी, उसकी आत्म स्वीकृति की परवाह नहीं है। नयी पीढ़ी ऐसे हर घर का कांच तोड़ देगी। एकल साहस, एकल जोखिम के बाद भी फिल्म कहती है कि नयी पीढ़ी जमीदारों के उत्पीड़न को बर्दाश्त नहीं करेगी।

तकनीकी समृद्धि के बावजूद हिंदी फिल्मों से कथानक की गति क्षीण पड़ती गयी, लेकिन श्याम बेनेगल अपनी फिल्मों के कथानक से कहीं भी कमजोर नहीं पड़ते। अंकुर का मूल्यांकन करने पर यह बात पूरी तरह से सच साबित होती है । "सत्तर के दशक की ज्यादातर फिल्मों में कथानक का जोर नहीं रहा है। बेनेगल की इस फिल्म में एक सुदृढ़ कथानक है, निर्देशक 'ट्रीटमेंट' भी कथानक के परिवेश और उसके रंग को पूरी कुशलता से समेटता है। ग्रामीण लोक संगीत एवं पार्श्व संगीत का अपना सौंदर्य है। इस फिल्म के पार्श्व संगीत में हिंदुस्तानी वाद्ययंत्रों का प्रयोग है। कई स्थलों पर गाँव के अपने वाद्ययंत्र है, जैसे-गले में लटके तबले पर लकड़ी की कमची की थाप, शहनाई, झालर इत्यादि। इस कारण इस फिल्म का आंचलिक परिवेश पूरी फिल्म में जीवंत तरीके से आया है। फिल्म को देखकर गाँव की रोमानी छवि निर्मूल होती है और गाँव अपने असली रंग में दिखता है। बलात्कार और अपहरण का गाँव, रंगदारी टैक्स वसूली वाला गाँव इत्यादि। यह फिल्म कथानक निर्वाह में बहुत कुशल है। श्याम बेनेगल के लिए इसके कथानक को चुनने का निर्णय भी जोखिम भरा

रहा होगा, यह फिल्म रंगीन होते हुए भी भारतीय गाँव का यथातथ्य चित्रण करती है यानी भारतीय गाँव को अपने शक्ल में दिखाती है।"[1] यह फिल्म भारतीय गाँव को उसकी मूल जीवन शैली में दिखाती है। मसाला फिल्मों से इतर यहाँ चरित्रों के सृजन में मनबहलाव वाली मानसिकता नहीं है। जैसे नायिका बिल्कुल गंवई पोषाक और संवादों से गाँव की असलियत को स्थापित करती है। गाँव की जीवन शैली में हड़बड़ी नहीं होती है। वहां बड़ा इत्मिनान होता है, वैसा ही इत्मिनान इस फिल्म के हर चरित्र में व्यंजित हुआ है। श्याम बेनेगल विभिन्न दृश्यों को दिखाकर गाँव की मिट्टी को जगाते हैं।

'निशांत'

सन् 1975 में बनी 'निशांत' श्याम बेनेगल की दूसरी सशक्त फिल्म थी, जिसमें गाँव के तीन क्रूर जमींदार भाइयों के साम्राज्य को दिखाया गया है। गाँव वाले भी यह स्वीकार करते है कि गाँव की हर चीज पर जमींदारों का ही पूरा अधिकार है, उनके धन पर भी और उनके जीवन पर भी। कभी कोई सोच भी नहीं पाता कि जमींदारों के विरुद्ध आवाज भी उठाई जा सकती है। त्योहारों के अवसर पर वे अपनी हवेली के द्वार पर आ खड़े होते हैं, पूरा गाँव वहाँ आकर श्रद्धा सुमन अर्पित करता है। बड़े-बूढ़े आकर तीन जवान जमींदार भाइयों के पाँव छूते हैं। एक मास्टर अपनी युवा पत्नी और बच्चे के साथ गाँव में रहने आता है। जमींदर परिवार के छोटे भाई की नजर हेडमास्टर की पत्नी पर पड़ती है। जब बड़े भाईयों को छोटे भाई की पसन्द का पता चलता है तो वे उसकी इस मर्दानगी पर बेहद खुश होते हैं। एक रात सारे गाँव के सामने मास्टर की पत्नी का अपहरण कर लिया जाता है। जमींदार, मास्टर की पत्नी को अपनी हवेली में ले आते हैं । वहाँ छोटा भाई मास्टर की पत्नी के साथ बलात्कार करता है। मास्टर पूरी कोशिश करता है कि किसी भी तरह उसकी पत्नी उसे वापस मिल जाये। वह पुलिस में रिपार्ट करता है कचहरियों के चक्कर लगाता है लेकिन कुछ नहीं होता, श्याम बेनेगल के प्रभावशाली प्रस्तुतीकरण में पूरी स्थिति की भयावहता दिखाई देती है।

मास्टर की भूमिका में गिरीश कर्नाड हैं और पत्नी की भूमिका में शबाना आजमी। कचहरी के लोग, सभी हाकिम इस प्रसंग के बारे में जानते हैं, लेकिन कोई भी मास्टर के पक्ष में नहीं बोलता और गवाहों के अभाव में आवेदन खारिज हो जाता है। हताश मास्टर वापस गाँव लौट रहा है चारों ओर बंजर जमीन है, सूखी पहाड़ियाँ और पत्थर है, वह टूट जाता है और आस-पास की झाड़ियों को पीटता है, चीखता-चिल्लाता है, दूर-दूर तक उसकी वेदना

[1] हिंदी सिनेमा: बीसवीं से इक्कीसवीं सदी तक, पत्रिका (सं.) प्रो. कमला प्रसाद, पृ. 267

को समझने वाला कोई नहीं है। इस प्रतीकात्मक दृश्य के बाद बेनेगल कहानी को नया मोड़ देते हैं, मास्टर गाँव वापस लौटता है और गाँव के लोगों को उनकी वास्तविक स्थिति से परिचित कराता है, मंदिर का पुजारी और मास्टर मिलकर गाँव वालों में विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित करने में सफल होते हैं।

'नदिया के पार'

सन् 1982 ई॰ में राजश्री प्रोडक्शन के बैनर तले आई फिल्म 'नदिया के पार' में पूर्वी उत्तर प्रदेश के एक पारंपरिक ब्राह्मण परिवार की कहानी को बुना गया था। इस फिल्म की कहानी केशव प्रसाद मिश्र के उपन्यास 'कोहबर की शर्त' पर आधारित है इस फिल्म में चंदन और गुंजा की प्रेम कहानी के साथ-साथ पूर्वी उत्तर प्रदेश की लोकपरंपराओं एवं संस्कारों का सुन्दर संयोजन है।

इस फिल्म पर विस्तृत चर्चा हम अपने लघु शोध प्रबंध के तृतीय अध्याय में विशेष संदर्भ फिल्म के अंतर्गत करेंगे।

'दामुल'

हिंदी के यशस्वी कथाकार शैवाल की कहानी 'दामुल' पर आधारित प्रकाश झा की फिल्म दामुल अपने कहन, अभिनय क्षमता, अद्भुत पृष्ठभूमि के रचाव से जो कलात्मकता का दर्शन कराती है, उससे दर्शक प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। यह फिल्म एक सामंती गाँव की कथा है । इस गाँव का जमींदार परंपरा के विपरीत ठाकुर (राजपूत) नहीं, ब्राह्मण है जो की खलनायक भी है। बेगारी करते-करते छोटे जोतदारों की जमीनें कैसे इस जमींदार की हो जाती है, यह उन किसानों को नहीं पता।

सत्ता व शासन व्यवस्था में दलितों, भूमिहीनों की आवाज सुनने वाला कोई नहीं है, न उनका कोई प्रतिनिधित्व करने वाला ही है , लिहाजा उनकी आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज बनकर दम तोड़ देती है। इन स्थितियों ने ही वर्ग संघर्ष का रास्ता तैयार किया है। बिहार के कई गांवों में भीषण नरसंहार हुए इन सबके बीच असल मसला जमीन का ही था जो आज भी रह-रहकर धधक उठता है। दामुल बिहार के सामाजिक, आर्थिक स्थितियों का खुलासा करती है। वर्गीय चरित्र को परत दर परत उघाड़ती है। प्रकाश झा ने इस फिल्म में समाज में जो घटित हो रहा था उसे ही पर्दे पर बखूबी उतारा है। मनोहर सिंह, अन्नू कपूर, दीप्ति नवल, सीमा मजूमदार, रंजनकामथ, प्यारे मोहन सहाय जैसे मंजे हुए कलाकार फिल्म को

प्रभावी बनाते हैं।

दामुल बंधुआ मजदूर की कहानी है। फिल्म में दिखाया गया कि दलितों के भीतर इतनी जागरूकता नहीं आई थी कि वे अपने शोषण का प्रतिकार कर सकते। बच्चा सिंह का खुन्नस यह है कि परधानी में माधों पांड़े ही जीतते आ रहे हैं, वे उन्हें हराने के लिए एक चाल चलते हैं और हरिजन टोले के गोकुल को चुनाव में खड़ा कर देते हैं। बच्चा सिंह हरिजन टोले में जाकर माधो पांडे का कच्चा चिट्ठा खोलते हैं, कहते हैं 'छूआछूत' भेदभाव इ बाभन लोग का बनाया हुआ है' बच्चा सिंह अपनी चाल में सफल तो हो जाते हैं, लेकिन गोकुल चुनाव नहीं जीत पाता, क्योंकि बच्चा सिहं को छोड़कर सभी राजपूत टोले के लोग अपने मत का प्रयोग करने ही नहीं जाते। कहना न होगा कि जाति की राजनीति छोटी पंचायत से लेकर बड़ी पंचायत तक आज भी मुक्त नहीं हो सकी है। जिस जाल में माधो संजीवना को फँसा देते हैं वह उसके लिए दामुल साबित होता है उसे महात्माइन की हत्या में फाँसी हो जाती है माधों का एक तीर से दो शिकार हो जाता।

दामुल के बारे में प्रकाश झा कहते हैं कि "दामुल फिल्म इसलिए बन पाई कि मैं मूलत: गाँव का हूँ और गाँव की सामाजिक व्यवस्था और उसके पीछे की राजनीति को समझ सकता हूँ। गाँव की यह समझ ही गाँव को उसकी समग्रता में पर्दे पर उतार पाने में मैं सक्षम हुआ, गाँव के हाट-बाजार के दृश्य, संजीवना का पहनावा, हरिजन टोले की बस्ती और उनके लोगों का रहन-सहन, खेत-खलिहान, बोली-बानी इतना सजीव हो उठा है तो यह मेरे गँवई मन मिजाज के कारण।"[1]

इस फिल्म में गीत के नाम पर महज दो गाने और वह भी पारंपरिक, एक लौंडा नाच दूसरा कीर्तन। ये गीत भी कथानक को आगे बढ़ाते है। संवाद भी आंचलिकता की महक से गमक उठे हैं-

- 'हमरा इज्जत कौन करना चाहता है।'
- 'यहाँ बाभन लोग सबका खून चूस लेगा।'
- 'महत्माइन बहुत उड़ रही हैं मालिक।'

गौरव करने की बात है कि जो हरिजन बस्ती जमींदारों के शोषण उत्पीड़न के खिलाफ उठ खड़ी नहीं होती उस समाज की एक औरत प्रतिकार करती है जब माधो पांडे ठंड की रात में अपने गुर्गों के साथ अलाव ताप रहे होते हैं, रजुली गंड़ासा लेकर आती है और सीधे माधो

[1] हिंदी सिनेमा: बीसवीं से इक्कीसवीं सदी तक, पत्रिका (सं.) प्रो. कमला प्रसाद, पृ.428

पांडे के गले पर प्रहार कर देती है माधो कुर्सी से गिर कर छटपटाने लगते है और अंतत: दम तोड़ देते है। रजुली को लोग पकड़ लेते हैं, रजुली तीव्र आक्रोश में फूट पड़ती है...तू मुखिया को मारकर दामुल पर काहे नहीं चढ़ा रे...।

'लगान'

सन् 2001 ई. में आशुतोष गोवारकर की फिल्म 'लगान' आई जिसमें मध्यप्रांत के एक गाँव की कहानी कही गई है, जो एक रियासत के अंतर्गत आता है। जिसकी बागडोर सीधे तौर पर राजा पूरण सिंह (कुलभूषण खरबंदा) के हाथ में है । जो किसानों से लगान वसूल करता है लेकिन लगान का निर्धारण अंग्रेज रिजेडेंट कप्टैन रसैल (पाल ब्लैकथोर्न) करता है। लगान का बड़ा हिस्सा अंग्रेजों के पास जाता है। इस प्रकार सीधे तौर पर सत्ता राजा के पास होते हुए भी वास्तविक सत्ता अंग्रेजों के हाथों में होती है। फिल्म इस रियासत के एक छोटे से गाँव चंपानेर की कहानी है। कहानी में सिर्फ बाहरी तथ्यों के अलावा कुछ भी सत्य पर आधारित नहीं है। लगान एक काल्पनिक कहानी के जरिए किसानों के महाकाव्यात्मक संघर्ष की पुनर्रचना करती है। यह फिल्म बताती है कि शोषक और उत्पीड़क कितना ही ताकतवर क्यों न हो जाए, जनता की मजबूत एकता और संघर्ष क्षमता उसको पराजित कर सकती है। लगान इस रूप में एक ऐतिहासक रूपक कथा भी है और वर्तमान के लिए एक संदेश भी।

दरअसल यह फिल्म भारतीय किसानों के संघर्ष की गाथा होते हुए भी हिंसा से पूरी तरह रिक्त है। इस प्रकार यह फिल्म जनसंघर्ष और हिंसा के अंतर को बहुत गहरे रूप में व्यक्त करती है। यहां न प्रतिशोध का जुनून है और न ही शत्रु को परास्त करने का उन्माद। गाँव के किसान यदि क्रिकेट के मैच में अंग्रेजों को हराना चाहते हैं तो इसलिए कि वे दुगुने लगान देने से बच सकें। जिसे देना उनके लिए नामुमकिन है।

लगान की कहानी बहुत सरल है। लगातार तीसरे साल भी सूखे के बावजूद किसानों का लगान दुगुना कर दिया गया है। किसान राजा के पास सूखे के कारण लगान न दे पाने की अपनी विवशता बताते हुए इस बार लगान माफ करने की गुजारिश करने जाते हैं, लेकिन अंग्रेजी रेजिडेंट लगान माफ करने के बजाय शर्त रखता है कि यदि गाँव के किसान उन्हें क्रिकेट के मैच में हरा दे तो वह अगले तीन सालों के लिए लगान माफ कर देगा अन्यथा उन्हें तीन गुना लगान देना पड़ेगा। किसान क्रिकेट के बारे में कुछ नहीं जानते लेकिन वे इस चुनौती को स्वीकार कर लेते हैं। फिल्म इसी चुनौती को संभव करने और क्रिकेट के मैच में अंग्रेजों को हराने की कहानी है। पूरी फिल्म गाँव के लोगों द्वारा क्रिकेट के मैच की तैयारी करने और

अंग्रेजों से मैच खेलने और हराने के माध्यम से कही गई है। इसके बावजूद इस फिल्म को क्रिकेट की फिल्म समझना इसके वास्तविक अर्थ को नकारना है, उनके(गाँव वालों के) लिए यह खेल जीवन और मरण का सवाल है।

फिल्म अपने एकथ्य के हिसाब से बहुत मजबूत है। आमिर खान, ग्रेसी सिंह, राजा जुत्थी, अखिलेन्द्र मिश्र के सशक्त अभिनय और आशुतोष गोवरिकर के कलात्मक निर्देशक के चलते फिल्म बहुत ही सशक्त बन गई है। जावेद अख्तर के गीतों 'घनन घनन घन घिर आय बदरा...', ' ओरी छोरी...,'ओ पालन हारे निर्गुन और न्यारे...' 'बढ़े चलो...' 'राधा कैसे न जले...' ने लोक को बेहतरीन ढंग से रखा है। ए.आर. रहमान के संगीत ने ऐतिहासिकता को अक्षुण्य बना रखा है। आस्कर के अंतिम तीन फिल्मों तक पहुँचने वाली फिल्म लगान 'मदर इंडिया' के बाद की सबसे सशक्त और कलात्मक फिल्म मानी जाती है।

'पीपली लाइव'

सन् 2012 में अभिनेता आमिर खान के प्रोडक्शन हाउस में अनुषा रिजवी के निर्देशन में बनी फिल्म 'पीपली लाइव' में किसान जीवन की विडंबना को दिखाया गया है। फिल्म की शुरुआत कुछ गंभीर प्रश्नों को लेकर होती है, जिसमें नत्था और बुधिया को कर्ज के चक्कर में बैंक के अधिकारी पकड़ ले जाते हैं, बाद में वे किसी तरह छूटकर आते हैं, अब उनके सामने जमीन बचाने का सवाल है। उस जमीन को बचाने का सवाल जो उनके बाप-दादा की आखिरी निशानी है। बुधिया कहता है- 'हमरा बस चलता तो अपनी जान देकर जमीन बचा लेते। कम से कम लड़कों बच्चों की परवरिश तो ठीक से हो जाती।'

बैंक के अधिकारियों को नकद पैसा चाहिए। ऐसे में दोनों भाई जमीन बचाने के लिए स्थानीय नेता भाई जी ठाकुर के पास जाते हैं। ठाकुर उनकी परेशानी को हँसी में उड़ाता है, फिर आत्महत्या करने की तरकीब सुझाता है-'जे सरकार भी कुछ लिए बिना देती नहीं है। तुम एक चीज तो दे ही सकते हो, अपनी जान दे देउ सरकार को...।'

यह बात बुधिया के मन में बैठ जाती है। वह पहले खुद आत्महत्या करने की बात करता है लेकिन वह बिना जोरू का होता है, ऐसे में मुआवजा न मिलने के डर से वह नत्था को इसके लिए तैयार कर लेता है। नत्था और बुधिया दोनों कमजोर हैं इसलिए दोनों को आत्महत्या करने का विचार काफी अच्छा लगता है। गाँव के दूसरे किसानों को इस बात में संदेह हैं कि मरने के बाद मुआवजा मिलेगा। गाँव के लोगों में यह बात पूरी तरह बैठ गई है कि सरकार

किसी भी परिस्थिति में गाँव के किसानों के लिए कुछ नहीं करने वाली है।

नत्था के आत्महत्या की एक छोटी खबर 'जनमोर्चा' समाचार पत्र में छपते ही गाँव में इलेक्ट्रॉनिक चैनलों की बड़ी-बड़ी गाड़ियों ने डेरा जमा लिया। नत्था की हर हरकत पर खबर रखते खबरिया चैनलों की टीआरपी बढ़ रही है। मुख्यमंत्री के चुनाव क्षेत्र का मामला होने से सबकी निगाह नत्था की मौत पर टिकी है, पर व्यवस्था आदमी के जिंदा रहने तक उसकी बेहतरी के लिए कोई काम नहीं करती, फिल्म में इस बात को पूरी तरह से दिखाया भी गया है लेकिन नत्था की मौत को एक तरह से मजाक बना दिया गया है। नत्था की मौत एक आदमी की मौत नहीं है। नत्था एक ऐसा किसान चरित्र है जो भारत के किसी भी क्षेत्र में देखने को मिल सकता है। नत्था की मौत इस पूरी व्यवस्था की विडंबना है। किसानों की यह दशा किसी एक खास क्षेत्र की नहीं है अपितु विदर्भ से लेकर बुंदेलखण्ड तक फैली है, जहाँ किसान किसी न किसी कारण से आत्महत्या करने को मजबूर हो रहे हैं।

फिल्म में किसान क्यों आत्महत्या कर रहे हैं इसका तो फिल्मांकन किया गया है लेकिन उसकी मौत को क्रूर मजाक बना दिया गया है । फिल्म देखते हुए एक सामान्य दर्शक मनोरंजन की मनोदशा में ही ज्यादा रहता है। फिल्म में सवाल नत्था की मौत का नहीं है, सवाल है हमारे सरोकारों का, जिसमें राजनेता से लेकर खबरिया चैनल के संवाददाता तक की संवेदनाएँ मर चुकी हैं। आज किसानों की मौत किसी के लिए दु:ख की बात नहीं है, जबकि वास्तविकता यह है कि भारत जैसे देश की गाँव और किसानों के बिना कल्पना ही नहीं की जा सकती। क्या किसानों की समस्याओं को नजरअंदाज करके हम भारत को समृद्ध कर सकते हैं? फिल्म में 'महंगाई डायन..., देश मेरा रंगरेजी बाबू...' जैसे गीत लोक की मिठास लिये हुए है, यह इस फिल्म की विशेषता है।

लोक-जीवन के तत्वों वाली अन्य फिल्में

सन् 1956 में आई 'ढोला मारु' फिल्म में राजस्थान में प्रचलित नरवर के युवराज ढोला और पूगल की राजकुमारी मारु की लोककथा का वर्णन है।

सन् 1960 ई. में आई फिल्म मधुमती के गीत संगीत में लोक की जबरदस्त ध्वनियाँ मुखरित होती हैं । गीत- 'चढ़ गयो पापी बिछुआ... और जुल्मी संग आँख लड़ी...' में लोक जीवन की छेड़छाड़, मधुरता और मस्ती है चढ़ गयो पापी बिछुआ गीत में उत्तर प्रदेश, बिहार एवं उड़ीसा के लोक गीतों तथा असम के बिहू लोकनृत्य के सुन्दर सम्मिश्रण का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है।

सन् 1960 ई. में के.ए. आसिफ के निर्देशन में आई फिल्म मुगल-ए-आजम वैसे तो शहजादा सलीम और अनारकली के प्रेम पर आधारित थी परंतु इसके गीतों पर लोक गीतों की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है।

'प्यार किया तो डरना क्या...' गीत पर पूर्वी उत्तर प्रदेश के मशहूर लोकगीत 'प्रेम किया क्या चोरी करी है...' का असर है, वहीं 'मोहे पनघट पे नंदलाल...' गीत पर ब्रज में प्रचलित लोग गीतों का प्रभाव है।

जसवंत झावेरी के निर्देशन में 1 जनवरी सन् 1963 को बुंदेलखंड के अमर भाइयों आल्हा ऊदल के गौरवशाली इतिहास को दर्शाने वाली 'फिल्म 'आल्हा ऊदल' रिलीज हुई थी।

इसी साल त्रिलोकी जेटली प्रेमचंद के अमर उपन्यास 'गोदान' पर इसी नाम से फिल्म लेकर आए। सिनेमाई गोदान के होरी (राजकुमार) और धनिया (कामिनी कौशल) की छवि किरदार के अनुरूप नहीं होने से फिल्म असफल रही परंतु पंडित रवि शंकर के अमर संगीत एवं अंजान के गीतों ने ग्रामीण जीवन की सहजता की बुनावट को अवश्य पेश कर पाने में सफलता पाई। 'पिपरा के पतवा सरिस डोले मनवा...', 'होरी खेलत नंदलाल बिरज में...,'चली आज गोरी पिया की नगरिया...', 'जनम लियो ललना के चाँद मोरे अँगना उतर आयो रे...', जाने काहे जिया मोरा डोले रे...' जैसे गीत इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

सन् 1965 ई. में आई फिल्म 'कश्मीर की कली' में कश्मीरी संस्कृति को सफलता पूर्वक उकेरा गया है। गीत संगीत में कश्मीरियत की अल्हड़ता झलकती है।

सन् 1965 ई. में ही प्रदर्शित 'हिमालय की गोंद में' फिल्म में पर्वतीय संस्कृति दिखाने के छिटपुट प्रयास दिखते हैं।

सन् 1970 में पंजाब में प्रचलित सूफी संत वारिस शाह की सन् 1766 ई. में लिखी प्रेम कहानी 'हीर-राँझा' पर इसी नाम से चेतन आंनद ने फिल्म बनायी। इस फिल्म के सभी संवाद कैफी आजमी ने कविता में लिखे थे। यह फिल्म पंजाब की संस्कृति को खूबसूरत तरीके से परदे पर उतारने में सफल हुई। 'तेरे कूचे में तेरा दीवाना..., 'डोली चढ़के...', गीतों में पंजाब की मस्ती सर्वत्र दिखाई देती है।

सन् 1971 ई. में ह्रषिकेश मुखर्जी के निर्देशन में बनी फिल्म 'गुड्डी' के गीत 'बोले रे पपीहरा..., राज खोसला निर्देशित 'मेरा गाँव मेरा देश' का गीत 'आया-आया अटरिया पे कोई चोर...' में लोक की झलक है।

सन् 1973 ई. में आई फिल्म 'सौदागर' खजूर से गुड़ बनाने वालों की जिन्दगी पर आधारित थी। जिसमें गाँव-देहात की संस्कृति, बाजार, नदी, तालाब, बगीचे सभी अपने प्राकृतिक रूप में मौजूद थे पर फिल्म में पात्रों का गलत चयन फिल्म को वो सफलता न दे सकी।

गौतम घोष निर्देशित सन् 1984 ई. की फिल्म 'पार' बिहार के गाँवों में जारी जमींदारों के अमानवीय अत्याचारों का जीवंत दस्तावेज है। बेहद मार्मिकता, संवेदनशीलता से ओत - प्रोत इस फिल्म में अत्याचार प्रतिरोध, और विवशता की दशाओं का चित्रण देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

सन् 1985 ई. में आई 'सोहनी महिवाल' फिल्म पंजाब के प्रेमियों सोहनी और महिवाल की लोक प्रचलित प्रेमकथा है। इस फिल्म के गीतों 'बोल दे मीठे बोल सोणिए, सोहणी चिनाब दी, रब तुम्हें माफ करें, में पंजाब की मिट्टी की सोंधी खूश्बू है।

1991में रणधीर कपूर ने स्वर्गीय पिता राजकपूर की अंतिम महत्वाकांक्षी फिल्म हिना प्रदर्शित की जो कश्मीरी पृष्ठभूमि पर बनी थी। एक भारतीय लड़के तथा पाकिस्तानी कबीलाई लड़की की प्रेम कहानी फिल्म में पिरोयी गई है। इस फिल्म में कश्मीर की लोक संस्कृति, कबीलाई ढंग सभी के रंग तो हैं ही साथ ही इसके गीतों जैसे- 'चिट्ठिया फूँक लंगा के उड़जा, 'नार दाना अनारदाना' आदि में भी देखा जा सकता है।

सन् 1996 ई. में शेखर कपूर के निर्देशन में दस्यु सुंदरी फूलन देवी के जीवन पर आधारित फिल्म 'बैडिट क्वीन' प्रदर्शित हुई। इस फिल्म में दिखाया गया है कि किस प्रकार गाँव के ठाकुर उसके साथ बलात्कार करते हैं और विरोध करने पर उसे गाँव से निकाल देते हैं। पुलिस के पास शिकायत ले जाने पर पुलिस वाले भी उसके साथ बलात्कार करते हैं, जिसकी वजह से उसे बंदूक उठानी पड़ती है और नरसंहार करना पड़ता है।

सन् 1996 की ही दूसरी महत्वपूर्ण फिल्म 'माचिस' थी जिसमें आतंकवाद से त्रस्त अस्सी के दशक के पंजाब का चित्रण किया गया और उन परिस्थितियों का अंकन किया गया था जिनके कारण पंजाब के कुछ नौजवान हथियार उठा लेते हैं। फिल्म का गीत ' चप्पा-चप्पा चरखा चले..., 'पानी पानी रे खारे पानी रे..., 'छोड़ आए हम वो गालियाँ..., 'भेजे कहार पियाजी बुला लो...' में पंजाब की सोंधी मिट्टी की महक है।

सन् 2003 में डॉ. चंद्र प्रकाश द्विवेदी की पीरियड फिल्म 'पिंजर' थी, जो अमृता प्रीतम के इसी नाम के पंजाबी उपन्यास पर आधारित थी। इस फिल्म में देश विभाजन के बाद भारत और पाकिस्तान के पंजाबियों की समस्याओं का चित्रण हुआ है। यह फिल्म हिन्दू-मुस्लिम

समस्या की तह में जाती है और भावनात्मक रिश्तों की ऊष्णता से किस प्रकार धर्म की दीवारें ढह जाती है, इसका बेबाकी से चित्रण करती है। इस फिल्म के प्रत्येक गीत में पंजाबियत बोलती है। 'मार उड़ारी नी कुकिए' 'दर्द मरया' 'शाबा नी शाबा' 'वतन ओ मेरिया' 'वारिस शाह नूँ' आदि गीतों में गुलजार ने और 'चरखा चलाती माँ ...' गीत में अमृता प्रीतम ने पूरी शिद्दत से पंजाबियत के रंग उड़ेले हैं।

2011 में आई नीलम माधव पाण्डा की फिल्म 'आई.एम.कलाम' एक चाय की दुकान पर काम करने वाल राजस्थान के बारह वर्षीय बच्चे छोटू की कहानी है, जो एक दिन टी.वी. पर राष्ट्रपति कलाम को देखकर खुद भी उनके जैसा बनना चाहता है। अपना नाम भी कलाम रख लेता है। फिल्म में राजस्थान के लोक वाद्य-नृत्य एवं पहनावों को देखा जा सकता है।

सन् 2012 की तिग्मांशू धूलिया निर्देशित 'पान सिंह तोमर' फिल्म 'पान सिंह तोमर' नामक सैनिक के जीवन पर आधारित है, जो राष्ट्रीय खेलों में बाधा दौड़ का स्वर्ण पदक विजेता रहा है, किंतु गाँव आकर परिस्थितियों के कारण उसे बीहड़ में कूदकर डाकू बनना पड़ता है। इस फिल्म की भाषा में बुन्देलखण्ड जीवंत हो उठा है। इरफान खान के सहज स्वाभाविक अभिनय एवं संजय चौहान की कसी हुई पटकथा के कारण यह फिल्म बेहतरीन फिल्म बन गई है।

अनुराग कश्यप निर्देशित फिल्म 'गैंग ऑफ वासेपुर' दो भागों में आई। इस फिल्म में बिहार और झारखण्ड के कोयला माफियाओं का संघर्ष दिखाया गया है। फिल्म के गीत-संगीत में भोजपुरी माधुर्य है। इस फिल्म में गाँव अपने पूरे स्वरूप में खुलकर तो नहीं आया है पर लोक धुनों में लोकगीतों का लोक गायकों द्वारा गाया जाना सुखद लगता है।

तृतीय अध्याय

3.1. मदर इंडिया में अभिव्यक्त लोकजीवन

हिंदी सिनेमा को बेहतरीन फिल्में देने वाले फिल्म निर्देशक महबूब खान की 1957 ई.में प्रदर्शित फिल्म 'मदर इंडिया' भारतीय किसान जीवन को परदे पर जीवंत करने वाली सशक्त फिल्म साबित हुई।

महबूब खान का जन्म गुजरात के विलिमोरिया के पास सरारा गाँव में हुआ था, बचपन से ही उन्होंने अपने गाँव और ननिहाल (काशीपुरा) के कठोर जीवन को पास से देखा था। कर्ज के बोझ से दबे, साहूकारों के घर गिरवी, किसानों के जीवन को महबूब खान ने बहुत करीब से महसूस किया था। परदे पर जब उन्होंने 'द गुड अर्थ' में वांग लांग के कठोर जीवन को देखा तो उनके आंखों से आँसू छलक पड़े, उनके पटकथा लेखक बाबूभाई मेहता और सहायक निर्देशक चिमण लाल गांधी भी इस फिल्म से बहुत प्रभावित हुए थे तथा इस तरह की फिल्म हिंदी सिनेमा में बनाने को सोची। उनकी यह सोच उनके जेहन पर इतना हावी रही कि बाबूभाई ने आठ-दस दिनों में एक सूत्रबद्ध पटकथा तैयार कर दी, वह पटकथा फिल्म 'औरत' की थी।

सन् 1937 में बाबू राव पेंटर की मराठी फिल्म सावकारी पाश (साहूकार का फंदा) को देखते हुए महबूब खान को साहूकार का चरित्र बहुत जमां था बहुत कुछ उसी से प्रभावित था चालाक ढोंगी और शातिर सुक्खीलाला का चिरत्र।

महबूब खान ने जिस फिल्म 'औरत' का निर्माण 1940 में शुरू किया उसके केन्द्रिय पात्र राधा की भूमिका में सरदार अख्तर को लिया तथा विद्रोही बिरजू की भूमिका याकूब नामक अभिनेता को मिली। औरत फिल्म की पटकथा लिखते समय महबूब खान और बाबूभाई मेहता ने भारतीय संस्कृति, खेती-किसानी एवं सूदखोरी व्यवस्था का सूक्ष्मता से विचार व विश्लेषण किया था।

फिल्म औरत की कहानी यह है कि –" सुंदर चाची अपने बच्चों के विवाह के लिए गाँव के साहूकार सुखीलाला से खेत पर पाँच सौ रूपये का कर्ज लेती हैं,वर्षों से फसल का तिहाई हिस्सा देने के बाद भी लाला का कर्ज अभी नहीं उतरा, कर्ज के बोझ तले दबा चिंताग्रस्त सामू अपना घर छोड़कर परदेशी हो जाता है, फलत: छोटे-छोटे बच्चों के पालन पोषण की जिम्मेदारी सामू की पत्नी राधा (सरदार अख्तर) पर आ जाती है। राधा अपने दम पर बच्चों को पालती है, कर्ज चुकाकर भी अपने बच्चों को बड़ा करती है। उसके दो बेटों

रामू और बिरजू में से बिरजू (याकूब) विद्रोही प्रवृत्ति का है, जिसका बचपन से एक ही सपना है कि किस तरह लाला का कर्ज चुका कर माँ का गिरवी रखा कंगन वापस ला सके"[1]।

औरत फिल्म की यही कहानी और भी ज्यादा सशक्त व धारदार होकर मदर इंडिया के रूप में अवतरित होती है। अब सवाल उठता है कि औरत का निर्माण कर चुके महबूब खान को सन् 1957 में मदर इंडिया के निर्माण की क्यों जरुरत पड़ी ? इसको इस तरह समझा जा सकता है-

सन् 1947 के पहले हम गुलाम थे, आजादी से सबको समृद्धि एवं खुशहाली की उम्मीद थी लेकिन दस साल बाद भी खुशहाली व समृद्धि ग्रामीण जनता को नसीब न हो सकी। प्रथम पंचवर्षीय योजना पूर्ण हो चुकी थी और दूसरी पंचवर्षीय योजना लागू हो चुकी थी, द्वितीय योजना में कृषि की जगह उद्योगों को अधिक महत्व दिया गया था। हर जगह नेहरू की धूम थी। पर एक वर्ग ऐसा था जिसका नेहरू युग से मोहभंग होने लगा था, संभवत: महबूब खान इसी वर्ग के प्रतिनिधियों में से थे। उन्होंने महसूस किया कि आजादी के दस वर्ष बाद भी भारत के गरीब किसानों की आर्थिक स्थिति में कहीं कोई बदलाव नहीं बल्कि स्थिति पहले से भी खराब हो चुकी थी। दूसरा देश की आजादी के बाद भी जमींदारी और साहूकारी की जड़ें मजबूती से देश को जकड़े हुई थी। किसान नारकीय जीवन जीने के लिए अभिशप्त था।

एक और घटना जिसका जिक्र मदर इंडिया के संदर्भ में करना अनिवार्य है, वह यह है कि- महबूब खान को मूँगफली बहुत पसंद थी उनके एक मित्र ने गाँव से लाकर एक अखबार में लिपटी मूंगफलियाँ दी, महबूब खान मूँगफली खा रहे थे कि गुजराती अखबार में छपी एक खबर पर अचानक उनकी नजर गई। खबर जूनागढ़ जिले की थी- जिसमें एक किसान महिला ने अपने बेटे का खून कर दिया था। गोधूलि के समय बाँध के पास के खेत में एक हृष्ट पुष्ट तरुण गाँव की एक तरुणी का बलात्कार कर रहा था। उसकी चीखें सुनकर एक किसान-स्त्री आगे दौड़ी, उसे पता चला कि अत्याचार करने वाला कोई और नहीं बल्कि उसका ही बेटा है, उसने उसे यह कुकृत्य करने से रोका, नहीं मानने पर उस किसान स्त्री ने अपने हाथ के मजबूत और धारदार हसिये से काटकर हत्या कर दी। इस खबर का आधार महबूब खान ने अपने फिल्म के अंत को बनाया जो संयोगवश यह कथानक में बिल्कुल फिट बैठ गया।

इन सभी संदर्भों, घटनाओं, पूर्वपीठिकाओं, अनुभवों और जिजीविषाओं की निर्मिति थी हिंदी फिल्म जगत की मदर मूवी-'मदर इंडिया'।

---

[1] वसुधा, हिन्दी सिनेमा बीसवीं से ईक्कीसवीं शताब्दी तक पत्रिका,संपा,कमला प्रसाद पृ.49

मदर इंडिया की शुरूआत में राधा (नर्गिस) का बड़ा बेटा रामू (राजेन्द्र कुमार) सफेद कुर्ता पायजामा व जैकेट पहने हुए गाँव के कुछ लोगों के साथ अपनी बूढ़ी माँ के पास आकर कहता है कि गाँव में नहर आ चुकी है और लोग चाहते हैं मुहूरत तुम्हारे (राधा के) हाथों हो, न-न करते हुए भी वह नहर का उद्घाटन करती है माल्यार्पित फूलों को देखकर वह अपने अतीत में चली जाती है, जब वह दुल्हन बनकर इस गाँव में आई थी-रोते हुये माता-पिता राधा की डोली को उसके ससुराल रवाना करते हैं, ससुराल में आई बहू की सुंदरता की चर्चा पूरे गाँव में है, सुंदर चाची (जिल्लो बाई) को अपनी सुन्दर बहू पर गर्व है, गाँव की एक औरत जब यह कहती है कि गाँव के लोग कह रहे है कि सुंदर चाची ने सामू (राजकुमार) की शादी के लिए सुक्खीलाल के पास अपनी जमीन गिरवी रखकर कर्ज लिया है तो वह बिगड़ जाती है और कहती है कि गाँव वालों को उनकी बहू देखकर जलन होती है इसलिए अफवाहें फैलाते हैं पर अंदर ही अंदर वह सोचती है कि कर्ज तो लिया ही है, यह बात जब राधा को पता चलता है कि 500 रूपये में जमीन कर्ज पर है तो वह अपने पति सामू से कहती है कि उसके गहने बेचकर जमीन छुड़ा ली जाए पर कौन पति अपनी नई-नई दुल्हन को बिना गहने देखना चाहता है, उसे तो अपनी पत्नी की कलाइयों में पड़े कंगन-अच्छे लगते हैं।

सामू एक-दो फसल पर कर्ज को चुका देने की बात करता है, दोनों जी तोड़ मेहनत करते हैं पारिवारिक दायित्व का निर्वहन करते हुए सामू तीन बेटों का बाप भी बन जाता है, अच्छी फसल आने पर सामू खुश होकर गरीबों को अनाज देने लगता है कि सुखी लाला वहां आकर कहता है कि उसके हिस्से से खैरात क्यों बाँटी जा रही है। सुंदर चाची के यह कहने पर कि लाला तुम्हारे हिस्से का एक चौथाई अनाज पहले ही अलग रख दिया गया है तो लाला काइयाँपन के साथ कहता है कि चाची क्या अंधेर कर रही हो? क्योंकि खाते में उसने चाची के अंगूठे का निशान लगा रखा है कि जब तक ऋण चुकता नहीं होता तब तक फसल के तीन चौथाई हिस्से पर लाला का और एक चौथाई पर चाची का हक होगा जबकि बात यह हुई थी कि फसल का तीन चौथाई चाची का और एक चौथाई लाला का, लाला ने छल से बही खाते में उलट-पलट कर अंगूठा लगवा लिया अनपढ़ चाची कुछ भी न जान सकी। विरोध करने पर लाला पंचायत बुलाता है। पंचायत का फैसला भी लाला के पक्ष में ही होता है, लाला सुंदर चाची के मरने की बात कहकर सामू का भी अंगूठा लगवाने की बात पंचायत में उठाता है। सुंदर चाची सामू को अंगूठा लगाने से मना कर देती है। सुंदर चाची पंचायत का फैसला मानने के लिए बाध्य हैं , एक चौथाई फसल से परिवार का पेट कैसे भरे। घर में अनाज नहीं है और बच्चे भूखे हैं, चाची लाला के पास उधार अनाज माँगने जाती हैं तो वह बहू के जेवर गिरवी

रखने को कहता है, चाची के बिगड़ने पर वह घर के बर्तनों पर आ जाता है बिरजू (साजिद खान) अपनी थाली देने को तैयार नहीं है पर राधा के समझाने पर कि खेत पर उसके पिता भूखे हैं, दादी भूखी है, रामू भूखा है तो वह थाली दे देता है।

नजर का खोटा लाला आती-जाती गाँव की औरतों पर कटाक्ष करता रहता है। कमला के द्वारा उसको धिक्कारते हुए कही गई बात-लाला जब तक तुम जिंदा हो इस गाँव में पीतल की कलसी किसके पास रहेगी। कमला की कही गयी बात आगे चलकर सार्थक होती है और सुन्दर चाची के घर के बर्तन भांडे उसके घर पहुँच जाते हैं। बर्तन देकर चाची थोड़ी सी जवारी पा लेती हैं, राधा जब अपने पति सामू के लिए खाना लेकर खेत जाती है तो सामू मिट्टी के बर्तन देखकर कहता है 'अच्छा लाला के घर अब बर्तन भी पहुँच गए' राधा अपने पति को हौसला देती हैं कि हम बंजर पड़ी पाँच बीघे जमीन को जोतकर उपजाऊ बनायेंगे, उस जमीन पर लाला का कोई हक नहीं है, उसकी फसल पर सिर्फ हमारा अधिकार होगा। सामू कहता है कि 'उस पथरीली जमीन को तोड़ना आसान नहीं है बैल मर जायेंगे'। इस बात पर राधा का कहना कि 'बैल तो बाद में मरेंगे, लाला हमें पहले ही मार डालेगा ' बहुत ही हृदय विदारक है।

बंजर पथरीली जमीन को तोड़ते हुए पहले सामू का एक बैल मर जाता है ,बाद में हल में बैल की जगह लिए हुए सामू के दोनों हाथ एक भारी पत्थर के नीचे आ जाते हैं। इस समय निकली राधा की चीख एक ऐसा सन्नाटा खींचती है कि पत्थर दिल इंसान की आँखें नीली हो जाएँ। सामू अपने दोनों हाथों को गंवा बैठता है मुसीबत पर मुसीबत आन पड़ती है, सामू अब न अपने हाथों खा सकता है ना बीड़ी पी सकता है। उसे बीड़ी सुलगाकर बिरजू और रामू देते हैं राधा अपने हाथों से उसे खिलाती है। बैलों को पानी पिलाते वक्त लाला सामू को ताने मारता है और बैलों की घंटियाँ उसके गले में डलवाकर बैल उठवा ले जाता है। ऐसी नारकीय जिंदगी से तंग आकर सामू खुद को परिवार के लिए बोझ समझने लगता है और राधा के माथे की बिंदी मिटाकर रात में ही गाँव छोड़कर चला जाता है। सुबह उठी राधा उसको घर भर में ढूँढती है न मिलने पर बदहवास होकर दौड़ती-चिल्लाती खोजती है, साथ में सामू और बिरजू माँ-माँ कहते दौड़ते हैं पर सामू नहीं मिलता। राधा को हरदम सामू के आने की आस लगी रहती है, राधा का रहा-सहा सहारा उसकी सास भी बेटे के गम से दुखी- दुखी कुछ दिनों में उसका साथ छोड़ चल देती है। सुखीलाला के बही खाते का कर्ज विरासत में राधा को मिलता है।राधा रामू और बिरजू के साथ खेती बाड़ी में जुट जाती है। भारी वर्षा के बाद बाढ़ आ जाने से पूरे गाँव में तबाही मच जाती है, राधा अपने गिरते हुए मकान को बचाने की कोशिश करती है, पर चारों तरफ पानी ही पानी है, बिरजू अंदर घुस आये सांप को हाथ से पकड़कर अलग

फेंकता है।

बाढ़ में अपने एक बच्चे को खो चुकी राधा का नवजात बेटा भी भूख से मर जाता है तभी वहाँ सुखीलाला आ जाता है। राधा को प्रलोभन देता है, वह राधा के सारे कर्ज माफ करने जमीन बैल, वापस देने को तैयार भी है बस वह उसकी हो जाए।लाला भूखे बिरजू के हाथ में चना देता है, भूखा बिरजू झट से चने मुंह में भर लेता है पर राधा के कहने पर बिरजू लाला के मुंह पर चने थूक देता है। राधा से उपेक्षित होकर लाला कुढ़कर चला जाता है। दो बच्चों को खो चुकी राधा अपने दो भूख से तड़पते बच्चों को बचाने के लिए हारकर लाला की कोठी पर जाती है अपना सबकुछ न्योछावर कर अनाज देने की बात करती है, कमरे में रखी देवी माँ की प्रतिमा के सामने राधा अपना मंगलसूत्र उतार कर फेंक देती है और देवी से कहती कि 'भूखे बच्चों का बलिदान वह नहीं कर सकती भले लाज चली जाए' ढोंगी लाला देवी माँ की मूर्ति को हटाकर दूसरे जगह ले जाना चाहता है तो इसका प्रतिकार करती हुई राधा लाला को मूर्ति हटाने से रोकती है। वह बच्चों की भूख के सामने विचलित अवश्य होती है कमजोर भी पड़ती है पर देवी माँ की प्रतिमा के सामने बच्चों की भूख कहीं पीछे छूट जाती है और नारी की लाज अहम हो जाती है। वह लाज बचाकर वहाँ से भाग आती है। जमीन से कोई जड़ ढूँढकर लाती है, उसे पकाकर बच्चों की भूख शांत करती है। भीषण बाढ़ के चलते गाँव के लोग गाँव छोड़कर जा रहे हैं। राधा से भी कहा जाता है कि वह भी गाँव छोड़कर चले क्योंकि भीषण तबाही के बाद गाँव में कुछ भी नहीं बचा है, कहीं पर कुछ नहीं उगने वाला पर वह जाने से इंकार कर देती हैं। गाँव वालों की बैलगाड़ियों को फटी –फटी आँखो से देखती है और उन्हें मिट्टी की कसम दिलाकर गाँव न छोड़ने को कहती है। गाँव वाले धरती की कसम पर उलटे लौट पड़ते हैं। परदे पर हल में जुते रामू (राजेन्द्र) और बिरजू (सुनीलदत्त) दिखाई देते हैं जिनको अधेड़ राधा (नर्गिस) अपने हाथों से रोटी खिला रही है, कष्ट उठाकर उसने अपने बेटों को बड़ा किया है शायद अब परिवार के दिन फिरें पर किसान के नसीब में सुख कहाँ।उनकी मेहनत रंग लाती है, खलिहान फसल से भर जाता है। ज्वार के ढेर पर बिरजू लेटा है लाला अपने तीन हिस्से के लिए आ धमका है। विद्रोही बिरजू कहता है कि लाला पहले हिसाब दिखाओ, उसने और उसके परिवार ने जी तोड़ मेहनत कर फसल उगाई है। फलत: अपनी फसल लाला को नहीं देगा। लाला बही खाता उसके सामने कर देता है पर वह बही पढ़ ही नहीं पाता बात फिर वहीं आ जाती है।राधा का बड़ा बेटा रामू (राजेन्द्र कुमार गाँव में आई एक लड़की चम्पा (कुमुकुम) से प्यार करता है जिसे बिरजू भाभी कहकर तंग करता है। बिरजू से ही चम्मा को यह मालूम होता है कि उसकी और रामू की जन्मपत्री का मिलान हो चुका है

और दोनों की शादी तय हो चुकी है। रामू चम्पा से प्यार करता है, प्यार तो बिरजू भी करता है गाँव के मास्टर की भांजी चंद्रा (अजरा) से, पर उसे यह नहीं मालूम कि वह अपने प्रेम को किस तरह व्यक्त करे, चंद्रा भी बिरजू को प्रेम करती है पर उसका प्यार भी मौन है। चंद्रा बिरजू को पत्थर के टुकड़ो के माध्यम से यह समझाती है कि किस तरह लाला उसकी फसल के तीन हिस्से ब्याज में रख लेता है और मूलधन ज्यों का त्यों बना रहता है। लाला की लड़की रूपा (चंचल) से बिरजू की खटपट बचपन से ही रही है। वह राधा के गिरवी रखे कंगन को पहन कर बिरजू के आगे चमका चमका कर दिखाया करती है उसे छेड़ा करती है वह उसके हाथ में कंगन देखकर कुढ़ता रहता है उसके मन में एक ही कुढ़ है कि माँ का कंगन उसके हाथों में आये वह अपने कष्ट के साथ-साथ गाँव के किसानों के कष्ट भी देखता है वह सुखी लाला जैसे कुत्ते से गाँव के किसानों का छीना हुआ हक वापस लौटाना चाहता है। उसके सीने की जलती आग हमेशा उसे लाला से बदला लेने के लिए उकसाती है।

चंद्रा के घर राधा बिरजू का रिश्ता लेकर जाती है पर निराश लौटती है मास्टर बिरजू जैसे बिगड़े लड़के से अपनी भांजी की शादी नहीं करना चाहते हैं क्योंकि लाला कभी भी उसे (बिरजू को) जेल पहुँचा सकता है। बिरजू चंद्रा से कहता है कि वह उससे शादी करने के बाद सुधर जाना चाहता था पर अब कभी शादी न करेगा चंद्रा उसको दिलासा देती है कि तेरी तो शादी गाँव की जमीन के साथ हो चुकी है जिसे लाला उठाकर ले गया तुम्हें उससे उसको छुड़ा कर लाना है। बिरजू सुखीलाला की कपास (जो उसी के खेत की थी) उठवाकर एक दूसरे व्यापारी को बेच आता है उससे कंगन लाता है। घर आकर झूठी कहानी गढ़ता है कि साधू जी की कृपा से ये कंगन मिले हैं। राधा बिरजू से कहती है 'जब साधू दे रहे थे तो तूने कंगन क्यों मांगा, अपने बापू का पता क्यों नहीं पूँछ लिया' तब राधा का व्यक्तित्व व सतीत्व चौगुना हो जाता है। तभी आकर रामू उसे बताता है कि कंगन महाराज की लीला से नहीं, बिरजू ने चोरी की है, तभी अपने गुंडों संग आकर लाला कहता है कि बिरजू अब डाका डालने लगा है। वह कंगन वापस करने की धमकी देता है राधा बिरजू पर गुस्साकर कंगन उतारने लगती है पर बिरजू कंगन नहीं उतारने देता, अंतत रामू और राधा के आगे विवश होकर वह कंगन और गांठ बांधे रूपये फेंक देता है।

रामू की शादी चम्पा से तय हो चुकी है। बारात बैलगाड़ियों पर सजकर जा रही है। सभी बाराती सजे-धजे हैं, पूरी मस्ती में हैं, अपने दु:ख को झूठा साबित करते हुए गाँव वाले जीवन में सुख का उत्स ढूँढ़ ही लेते हैं। परेशानियों कष्टों के बावजूद कोई पर्व, त्योहार इनसे छूटता नहीं अगर यह भी न हो तो कष्ट साध्य किसान दो चार दिन में ही मर जाए। एक गाड़ी

पर रामू दूल्हा बना बैठा है, उसके साथ चन्द्रा सेहरा पकड़े बैठी है, एक गाड़ी पर रूपा अपनी सहेलियों के साथ है, एक में बिरजू है और अन्य में गाँव के लोग गाते-मुस्कराते, दौड़ते- भागते बारात चम्पा के घर पहुँचती है। धूमधाम से शादी होती है। चम्पा बहू बनकर राधा के घर आ जाती है, घर की गृहस्थी में व्यस्त वह जल्द ही गर्भवती हो जाती है। बिरजू पानी भरता, चक्की पीसता है चाचा बनकर वह बहुत खुश है। पूरा परिवार बेटे को पाकर खुश है राधा कहती है- "रामू के बापू मैं दादी बन गई तुम कहाँ हो अपने पोते को देखने नहीं आओगे' तो उसकी आँखों में करुणा तैर जाती है।

होली का त्योहार मनाते हुए पूरे गाँव वाले रंग-अबीर एक दूसरे पर डाल रहे हैं, नाच गा रहे हैं, चारो तरह खुशी और मस्ती का माहौल है। रूपा बार-बार बिरजू को उसकी माँ का पहना हुआ कंगन दिखा रही है। रूपा उससे होली खेलने को बार-बार अरुझती है पर बिरजू चंद्रा पर रंग डालता है और रूपा के संग होली न खेलकर रंग बगल में उड़ेल देता है। रूपा जलभुन कर रह जाती है। उधर राधा अपने पति को याद करती अतीत में डूबी है, इधर अपनी माँ का कंगन रूपा के हाथ में देखकर बिरजू का मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है और वह कंगन उतारने की नाकामयाब कोशिश करता है, रंग में भंग पड़ जाता है भगदड़ मच जाती है लाला के लठैत बिरजू पर टूट पड़ते है, लाला बिरजू को गाँव से निकलवाने पर आमादा है वह कहता है कि बिरजू अब राधा के हाथ में नहीं रहा उसके रहते गाँव की बहू-बेटियाँ सुरक्षित नहीं हैं। भीड़ लाला का समर्थन करती है खुद राधा बिरजू को पीटने लगती है तो चम्पा कहती है कि बिरजू तो रूपा को अपनी बहन बनाना चाहता था पर रूपा तैयार नहीं हुई थी। राधा को यह मंजूर नहीं कि उसका बेटा गाँव की किसी लड़की को छेड़े। वह अपनी या बेटे की जान दे सकती है पर किसी गाँव की लड़की की इज्जत नहीं।

इस घटना के बाद बिरजू की उग्रता ज्यादा बढ़ जाती है, वह एक दूसरे महाजन की बंदूक चुराकर ले आता है उसे पुवाल में छुपा देता है राधा देखती है तो बंदूक को नष्ट करना चाहती है रामू भी माँ के साथ बंदूक छीनने की कोशिश करता है। दोनों भाइयों में मारपीट होती है पर बिरजू बंदूक लेकर भागता हुआ लाला की कोठी पर जाता है उसके पैर में किसी कारिंदे द्वारा चलाई गोली लग जाती है वह खलिहान में आ जाता है और उसे खोजते हुए लाला भारी भीड़ के साथ आता है, भीड़ के हाथों में जलती मशालें है, राधा संकट पहचान कर बिरजू को एक पुवाल के ढेर में छुपा देती है उसके हाथों में लगे खून को देखकर लाला के आदमी भांप लेते हैं कि बिरजू यही कहीं छिपा है, लाला पूरे खलिहान में आग लगवा देता है

किसी तरह राधा को लिए बिरजू बंदूक लेकर भाग जाता है माँ को थोड़ी दूर पर छोड़कर वह भागने लगता है राधा चिल्लाकर पुकारती रह जाती है पर वह नहीं रूकता।

बिरजू डाकू बनकर टोली खड़ी कर लेता है। रूपा (चंचल) की शादी हो रही है द्वार पर बारात आने को है, बिरजू ने लाला के पास खबर भेजी है कि वह मंडप से उसकी लड़की को उठाकर ले जाएगा। लाला राधा बहन कहते हुए उसके घर आकर राधा के पैरों पर पड़कर गिड़गिड़ाता है राधा उसे वचन देती है कि बिरजू को मैं रोकूँगी तुम अपनी बेटी का लगन करो।

डाकू बिरजू का सामना एक डोली से होता है जिसमें दुल्हन बनी घूँघट काढ़े चंद्रा (अजरा) बैठी है, वही चंद्रा जिससे वह प्यार करता है जिससे उसकी शादी नहीं हो पाई, वह घूँघट उठाकर चंद्रा को देखता है फिर घूँघट गिराकर चला जाता है।

घोड़ों पर सवार डाकूओं की टोली लाला के घर की तरफ बढ़ती है, राधा को देखकर बिरजू रुकता है, राधा बेटे को रोकती है उसको पकड़कर लटक जाती है पर बिरजू उसकी बात न मानकर घोड़ा तेज दौड़ता हुआ आगे बढ़ जाता है। लाला के घर डाकूओं की टोली पहुँचती है और अफरा तफरी मच जाती है। बिरजू को देखकर लाला काँपने लगता है, रहम की भीख मांगने लगता है, उसे उसके बचपन की शैतानियाँ याद दिलाने लगता है पर बिरजू को लाला के किये अन्याय याद आते हैं। डाकू लोग तिजोरी तोड़ देते हैं बिरजू सारे बही खाते को जलाने लगता है तो लाला उसके आगे गिड़गिड़ाता है पर बिरजू कहता है कि "लाला तुम भी डाकू, हम भी डाकू। तुम गरीब किसानों को लूटते हो मैं तुमको लूटने आया हूँ।" लाला की हत्या हो जाती है बिरजू रूपा को मंडप से उठाकर भागना चाहता है पर उसे उसका बड़ा भाई रामू रोकता है और माँ के वचन को मानने को कहता है। बिरजू के न मानने पर दोनों भाईयों में छीना-झपटी होती है, बिरजू रूपा को घोड़े पर बैठाकर भागने में सफल हो जाता है उसकी माँ बंदूक लिए उसको रोकती है वह नहीं रुकता राधा कहती है कि रूपा को छोड़ दे, वह पूरे गाँव की इज्जत है, रूपा हमारी बेटी है पूरे गाँव की बेटी है ,पर बिरजू रुकता नहीं आगे बढ़ जाता है तो राधा बंदूक तानकर उसकी पीठ पर गोली चला देती है। बिरजू धड़ाम से घोड़े से नीचे गिर जाता है। रूपा भाग जाती है पास खड़ा घोड़ा बिरजू के पीठ में लगे खून को चाटने लगता है मानो सहला रहा हो राधा दौड़ती है बिरजू किसी तरह आगे बढ़ता है हाथ में कंगन लिए वह माँ की तरफ आता है माँ की गोद में पहुँचते ही बिरजू दम तोड़ देता है राधा की चीख पूरे सिवान में गूँज जाती है। फिर जब शॉट खुलता है तो राधा के हाथों में आई नहर के मुहूरत के साथ फिल्म समाप्त हो जाती है।

3.1.1 लोक संस्कृति

'मदर इंडिया' भारतीय लोक संस्कृति की परदे पर हुई सबसे सटीक और सशक्त व्याख्या है। फिल्म में लोक के सभी रंग मौजूद हैं, गाँव अपनी संपूर्णता में फिल्म में उपस्थित है। फिल्म राधा के परिवार का पल्लू पकड़े तो जरूर है पर उसकी नजर से गाँव गिराव की कोई भी चीज मजाल है छूट जाए।

संघर्षशील राधा (नर्गिस) ने पसीने और आँसू से जो महागाथा लिखी वह पूरे गाँव के लिए आदर्श है, आज गाँव में जो थोड़ी बहुत खुशहाली है तो राधा की बदौलत। जिस गाँव में आज पक्की सड़क, लहलहाते खेत, पानी की नहर तक आ गई है वहाँ कर्ज के बोझ से दबे किसानों के आह के सिवाय कुछ भी न था, किसान कर्ज में मरने को अभिशप्त था, इसकी सटीक व्याख्या भारत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन ने की है कि- "भारतीय किसान कर्ज में पैदा होता है, कर्ज में जीता है और कर्ज में मर जाता है।"[1]

सभी का पेट भरने वाला किसान घुट-घुट कर जीने को विवश क्यों है? इसका जबाव अपने को किसान हिमायती मानने वाली सरकारें न तब दे पाई थी और न अब ही दे पा रही हैं, अब तो और भी ज्यादा खराब हालत है तब साहूकार था अब मल्टीनेशनल कंपनियाँ हैं। प्रेमचंद ने गोदान में होरी को कर्ज से तड़पकर मरते देखा था, धनिया की चीत्कार सुनकर क्या एक-एक भारतीय के चेहरे रूवांसे नहीं हो गए थे। गाँव-शहर सब जगह खटकर भी साहूकार के कर्ज न चुकता कर पाए, यंत्रणा झेलते देखकर विमल रॉय की आँखे यूँ ही नहीं नम हो गई थी। वो साहूकार का ही चक्रव्यूह था जिसमें फँसा किसान कभी निकल न सका नाक में मूल की नकेल पड़ी ही रह जाती सारी फसल तो ब्याज में ही चुक जाती थी किसान फिर कर्ज लेने को मजबूर। इसी तरह का सामू के ब्याह पर 500 रूपये का सुंदर चाची द्वारा लिया गया कर्ज था जिसके आग में तीन पीढ़ियाँ तबाह। मदर इंडिया की इस कारुणिक कहानी में हम लोक संस्कृत की छानबीन करें तो अनेकों ऐसे प्रसंग मिल जायेंगे जहाँ लोक का बुनियादी स्वरूप है।

भारतीय संस्कृति मूलत: कृषि संस्कृति रही है और यह संस्कृति प्रकृति की गोद में फल-फूलकर बढ़ी है। यहाँ पर मात्र मानव समाज की ही नहीं पशु पक्षी नदी, तालाब, भीट, खेत, नहर, बाग, मंदिर, मस्जिद फल, फूल, फसल, जलिहान, सब की मिली जुली मौजूदगी है, साथ-साथ गांवों का जीवन एकाकी न होकर समरसता से भरा जीवन है जहाँ पर सभी एक

[1] वसुधा, हिन्दी सिनेमा: बीसवीं से इक्कसवीं शताब्दी तक (सं.), कमला प्रसाद, पृ.- 174

दूसरे के जीवन के सुख-दु:ख के सहायक एक दूजे के मन के मीत हैं।

कान में कुंडल, नाक में नथुनी, हाथ में मेंहदी, माथे के बीचो-बीच लटकता मांगटीका, पांव में महावर लगाए राधा लाल जोड़े में ब्याह के मंडप में बैठी है, गाँव की औरतें राधा की सुन्दरता की बलैया ले रही हैं, दुल्हन बनी राधा सच में देवी लग रही है, जोरा-जामा में सजा सामू (राजकुमार) माथे तिलक लगाए, सर पर पगड़ी बांधे आज तो वाकई सरदार लग रहा है, लगे भी क्यों ना? वही तो आज की बारात का राजकुमार है। पंडित के मंत्रोच्चार में संपन्न हो रहे सात फेरे सात जन्मों के अटूट बंधन के परिचायक हैं जो केवल भारतीय संस्कृति में ही है। सिंदूरदान मात्र रस्म अदायगी नहीं स्त्री -पुरुष के बंध रहे रिश्ते की सबसे मजबूत सी मुहर है। सामू के हाथों राधा का सिंदूरदान और राधा का सर छुपाकर आंचल ताकना परदे पर लोक स्त्री की छवि अंकित कर जाती है। दूल्हा-दुल्हन के ऊपर हल्दी चावल के अक्षत छिड़कना दूल्हा-दुल्हन की सुख-समृद्धि को दर्शाता है।

बेटी के विदाई का वक्त मात्र माता-पिता को ही नहीं बेधता अपितु जब कोई बेटी विदा होती है तो पूरे गाँव की महिलाएँ ,गाँव की चौहद्दी तक छोड़ने आती हैं, अंचरा से आंसू पोंछती, सिसकती वे जाती डोली को फटी-फटी आँखों से देखती हैं। फिल्म का यह दृश्य बहुत ही मार्मिक है। बैलगाड़ियों से सजी बारात राधा की डोली लेकर जब नदी पर से गुजरती है तो कछार में खड़ी झुण्ड की गायें- बैलों की घँटियां सुनकर अनकने लगती है, बकरियाँ चराते-चरवाहे उचक-उचक कर डोली देखने लगते हैं, इस दृश्य की रचना लोक को बहुत करीब से जानने वाले महबूब ही कर सकते थे।

दुल्हन (राधा) जब घर में आती है तो-घर के चौखट पर चौका पूरा होना , नारियल फोड़कर स्वागत किया जाना है यह सब कुछ लोक के शुभ कर्म हैं को दिखाता है ।अपने ब्याह से खुश सामू (राजकुमार) गाँव की बहुरियों को साड़ियाँ बांटता है, बहुरियाँ अपने पद के हिसाब से सामू से मजाक करती हैं। घर में बैठी राधा का सामना जब पहली बार अकेले में सामू से होता है तो वह उसके चरणों में गिर जाती है। यह भारतीय ग्रामीण संस्कृति में ही संभव हैं जहाँ नारी पति को परमेश्वर समझती है इस बात को महबूब ने सूक्ष्मता से पकड़ा है।

राधा जल्द ही घर गृहस्थी के कामों को थाम लेती है, जांता में अनाज पीसना, गाय दूहना, गोबर उठाना, सब कुछ करने लगती है जबकि अभी उसके हाथों की मेंहदी भी नहीं छूटी है। यह भारतीय नारी का कर्मठपन ही तो है जो अन्यत्र दुर्लभ है। राधा का कर्ज की बात सुनना, तुरंत अपने गहने उतारना और फिर सामू से कहना कि इन गहनों को बेचकर कर्ज चुका

आओ। यह एक ग्रामीण औरत ही कर सकती है, जिसे अपने श्रृंगार से ज्यादा परिवार की खुशहाली प्यारी है। खेत पर सामू का हल लेकर जाना, राधा का दौड़ते हुए खाना ले जाना सामू का राधा को छेड़ना, राधा का मना करना, शंभू और कमला का छुप कर सुनना और ठठाकर हँसना गाँव की जीवंत झलकियाँ हैं।

ज्वारी की पकी बालियों को झूमझूम कर काटना किसानों के हृदय की खुशी को जाहिर करता है जिसके लिये उन्होंने खून-पसीना एक कर दिया हो, पूरा गाँव खलिहान में ज्वारी की दँवाई और ओसवायी में लगा हुआ है, खेती-किसानी की इससे सशक्त झलकियाँ और कहाँ मिलेगी।

राधा को बेटा पैदा होना, सामू का खपड़े पर चढ़कर आंगन में जाना सुन्दर चाची का उसको खदेड़ना उलाहना देना 'कि एक तेरे ही बेटा पैदा हुआ है जो इतना उधम मचा रहा है' सामू का झन्ना लेकर बजाना, अनाज उठाकर गरीबों को देना सभी कुछ बहुत मनोरम दृश्य हैं। चाची का लाला को कहना 'क्या फटे बांस की तरह चिल्ला रहे हो लाला' लोक सुलभ लगता है। बैलों की घंटी, कोयल का कूंकना, गौरैये की चहचहाहट सभी की फिल्म में उपस्थिति निर्देशक की गहरी लोक समझ को दर्शाता है। अनाज की पहली राशि में लोहे के औजार डाले जाने जैसी सूक्ष्म चीजें भी याद रखी गयी हैं।

बच्चे कितना भी खाये रहें माँ बाप की थाली में जब तक नहीं खा लेते उनका पेट नहीं भरता वो चाहे एक ही कौर ही क्यों न हो, इस चीज को महबूब ने बहुत ही सशक्त ढ़ंग से पकड़ा है जब राधा के मुट्ठी भर चावल के दानों में से रामू ओर बिरजू खाकर दादी के पास कहानी सुनने चले जाते हैं। खेती-बाड़ी के साथ-साथ स्कूल का प्रसंग, राधा का बिरजू को पढ़ाने के लिये ले जाना, पंडित कालिका प्रसाद का बच्चों को मुर्गा बनाना, बदमाश बिरजू का पंडित के सर पर गुलेल खींचकर मारना सभी कुछ ग्रामीण जीवन की यथार्थरेखा खींचते हैं।

बिरजू का लोरी गाना- 'चंदा मामा दूर के, पुड़ी पकाये बूर के, आप खायें थाली में दादी को दे प्याली में, दादी गयी मर....'दादी का बिरजू पर गुस्सा होना, रस्सी से बांधना दादी और पोते की चमकाइयां बिराइयां, चुपके से राधा का बिरजू को खाना देना, सास का बहू से बच्चे को खाना देने को कहना और कहना कि 'तू कैसी माँ है जो अभी तक भूखे बच्चे को देखती रह गयी मैं होती तो कब का दे चुकी होती'। राधा का कहना 'वो तो खा रहा है', सास का कहना- 'बहू तूने मुससे पूछे बगैर खाना दे दिया' सभी ग्रामीण घरों में घटने वाली सहज

घटनाएँ हैं। हाथ कटे सामू की बीड़ी का गिर जाना, आटा सानती राधा का दौड़कर आना और बीड़ी को हटाना, सुन्दर चाची का डेहरी में सामान लेकर आना, बहू को पुकारना, सामू का दौड़ना, हाथ की याद आते ही आंखों से आँसू छलक पड़ना साथ में माँ बहू सबका रोना करूणा उपजा जाता है।

लाला के तानों से कुढ़ना अपने को परिवार पर बोझ समझना , सामू का एक रात राधा के माथे का टीका मिटाकर चले जाना, सुबह उठकर राधा का ढूँढना, माँ की बात, राधा का बदहवास होकर ढूँढना पीछे-पीछे माँ-माँ चिल्लाते बच्चों का दौड़ना बिरजू का कहना 'माँ बापू के हाथ नहीं है उनको खाना कौन खिलायेगा' राधा के मन का मसोसकर रह जाना, आँखों से आँसुओं की बरसात होने लगना भला भुलाया जा सकता है । सुन्दर चाची के तेरहवीं का दृश्य–बिरजू का कहना 'बूढ़े पंडितों को लड्डू और हमें रोटी भी नहीं' रामू का कहना- 'ये तो ब्राह्मण हैं' कमला का कहना-'मुर्दे की आत्मा को लड़डू खिलाओ जीतों को भूखों मारो', राधा का कहना- 'दुनिया की यही रीति है।'

सब कुछ ग्रामीण परिवेश की ऐसी सशक्त घटनाएँ है जिनको हर गरीब परिवार झेलने को अभिशप्त है। धर्म के ठेकेदारों ने व्यवस्था ही ऐसी बना दी है। सुखीलाला का बैलों को घर पर लाना, बैलों का घर में भाग आना आकर बिरजू और राधा को चाटने लगना व इस तरह के दृश्य हम गाँवों में अक्सर देख सकते हैं जहाँ पर बेचे गए पशु पगहा तुराकर भाग आते हैं। हलों में जुती राधा, हल थामें बिरजू, बगुलों का उड़ना, खेतों पर ही बच्चों के संग दिन बिताना, मांड़ पकाकर खिलाना, ज्वारी भूनकर खिलाना, आँधी के पहले बिरजू का चरखी नचाना आदि बहुत की मार्मिक दृश्य है। बाढ़ के बाद की विभीषिका का दृश्य-पेड़ों का उखड़े होना, घरों का ढहा हुआ स्वरूप, सांप बिच्छू का पानी में तैरना, लोगों का गाँव छोड़कर जाना, राधा का मिट्टी की कसम दिलाकर लोगों को रोकना सभी गाँव की जीवट संस्कृति को दिखाते हैं।

राधा का तालाब से बेर्रे ढूँढ़कर लाना पकाकर बच्चों को खिलाना एक माँ की जिजीविषा को दर्शाती है। फसलों का फिर से पकना, लोगों के चेहरे पर खुशियों का लौट आना, ढोलक, नगाड़े, ताशे का बजना मेले का लगना, पेड़ो पर झूलों का पड़ना, चंपा का झूला झूलते हुए गाना सभी कुछ आज भी गाँवों में हम देख सकते हैं।

पंडित की गाय का मैकू के खेत में पड़ना, काजी हाउस ले जाने की सूचना, चंद्रा का बच्चों को क, ख, ग, पढ़ाना, राधा का रिश्ता लेकर जाना, दुखी होकर लौटना, रूपा का छेड़छाड़, बिरजू को खरी-खोटी सुनना, राधा का आना, बिरजू को डण्डे से मारना, बिरजू का गाँव के बच्चों के संग गिल्ली खेलना, रूपा का गिल्ली को तलैया में फेंकना, रूपा का राधा

से बिरजू की शिकायत, घड़े फोड़ने का प्रसंग, बिरजू का मुर्गा बनना, राधा का गुस्सा होना, दोनों बेटों का मनाना, फिर दोनों के साथ राधा का खाना खाना, आम जीवन के मान मनुहार हैं। इन सभी दृश्यों से लोक जीवन पूरी तरह से जीवंत हो उठा है।

होली में सभी का नाचना साथ- साथ बिरजू के चंद्रा पर रंग डालने रूपा के संग होली न खेलने भैंसे पे बैठकर घूमने और चंपा को चिढ़ाने जैसे तमाम दृश्यों को हम लोक जीवन में देख सकते हैं। इस फिल्म में लोक संस्कृति पूर्ण रूप से मौजूद है। महबूब खान और उनके परकथा लेखक की लोक समझ को हम सलाम करते हैं जिन्होंने लोकजीवन को फिल्म में बुनकर इतने बेहतरी से प्रस्तुत किया कि मदर इंडिया लोक संस्कृति की चित्रपटी बन गई।

3.1.2 लोक-गीत, लोक-संगीत, लोक-नृत्य/ नाट्य

लोक-गीत

लोक संस्कृति की चित्रपटी मदर इंडिया में लोक गीतों की अनुगूँज कम नहीं है, जीवन के सुख दु:ख में ये गीत ही तो लोक मानस के साथी होते हैं जो उसका साथ देते हैं।

राधा जब पिता के घर से विदा होकर ससुराल जा रही होती है तो उस समय का बिदाई गीत- "पिय के घर आज प्यारी दुल्हनियाँ चली, रोवै माता-पिता उनकी दुनिया चली...।" में एक बेटी जो अपने माँ- बाप, भाई-बहन से बिछड़कर दूर देश जा रही है, उसको अपने बचपन की सारी यादें, माता-पिता का प्यार, भाई-बहनों का साथ याद आ रहा है।

फिल्म के दूसरे गीत में सभी गाँव वाले पकी फसल को काटते हुए मस्त होकर- "मतवाला जिया डोले, पिया झूमे घटा छाये रे बादल, करना है तो कर प्यार, न डर बीती उमर आयेगी न कल, अरे पागल-अरे पागल..."

यह गीत गाते हैं तो लोक रंजन का महौल बन जाता है। कर्ज से ऊब चुके सामू और राधा अपने दु:ख को गाकर हल्ला करते हैं, गीत है- "जोन्हरिया कटती जाये रे, उमरिया घटती जाये..." उनके अनुसार मौसम आ आकर चले जा रहे हैं, उनके जीवन में कोई बदलाव नहीं हो रहा है, सारे मेहनत का फल लाला जैसे ठग के पास पहुँच जाता है।

अपने पति को ढूँढती हुई राधा रो रोकर दर-दर भटक रही है उस विरहिणी के कण्ठ से विरह के बोल फूट पड़ते हैं- "नगरी-नगरी द्वारे-द्वारे ढूँढूँ रे संवरिया, पिया-पिया रट के मैं तो हो

गयी बांवरिया...।"

संघर्षशील राधा आई हुई चुनौतियों को स्वीकार करती है ,औरत अबला नहीं यह साबित करती है उसके गाये गीत "दुनिया में हम आये हैं तो जीना ही पड़ेगा, जीवन है अगर जहर तो पीना ही पड़ेगा...।" इस बात को साबित करते हैं।

बाढ़ की विभीषिका से त्रस्त होकर जब गाँव के लोग घर छोड़कर जाने लगते हैं तो राधा उन्हें मिट्टी की कसम दिलाकर उन्हें रोकती है उसके कंठ से फूटी आवाज-"ओ जाने वालों, जाओ न घर अपना छोड़कर, माता बुला रही है तुम्हें हाथ जोड़कर...।" गाँव वालो को हिलाकर रख देती है आखिरकार गाँव वालों को लौटना ही पड़ता है।

गाँव के लोग फसल पकने पर खुश होकर- 'दुख भरे दिन बीते रहे भइया, अब सुख आयो रे...' गीत गाते हुए नाचते हैं ढ़ोल बजाते हैं पूरा गाँव खुशी के रंग में सराबोर है।

चंपा और रामू का लगन होने को है, वे एक दूसरे से छुप-छुप कर मिलते हैं। चंपा इशारों में अपने ब्याह की बात रामू को बताती है और लजाकर खेतों में जाकर गीत गाते हुये खुशी जाहिर करती है -

"घूँघट नहीं खोलूंगी सइंया तोरे आगे
उमर मोरी जानी सरम मोहे लागे।"

रामू के ब्याह में गाँव वाले बैलगाड़ी पर गाते झूमते जा रहे हैं। गाँव की गोरियाँ गाना गाती है 'ओ गाड़ी वाले गाड़ी धीरे हांक रे, जिया उड़ा जाये लड़े आँख रे...' सभी लोग बारात लिए दुल्हन के घर पहुँचने को बेताब हैं, सभी के चेहरे पर खुशी तैर रही है।

होली के अवसर पर गाँव वालों का नाचना गाना रंग गुलाल अबीर उड़ाना सब कुछ लोकानुसार लगता है-"होली आई रे आई रे आई रे..." गीत गाते ग्रामीण जन मगन लगते हैं।

लोक-संगीत

फिल्म मदर इंडिया में लोक संगीत की पूरी खनक है। लोक वाद्य का जगह-जगह पर इस्तेमाल हुआ है, पूरी फिल्म के कौतूहल एवं हास्य भरे दृश्यों में तबले की मद्धिम थाप हम सुन सकते हैं। बांसुरी की मधुर तान गीतों में सुनायी देती है तो मन मतवाला हो जाता है। फिल्म के मार्मिक दृश्यों में मद्धिम ध्वनि में बजता सितार संगीत को और भी ज्यादा यथार्थ बनाता है।

राधा के ब्याह में बजने वाली शहनाई की धुने हमें बरबस अपनी ओर आकृष्ट करती है, उसके आरोह अवरोह पर हमारा ध्यान चला जाता हो है।

मेले में बिरजू द्वारा ढोल और ताशे की धुन पर ठुमक-ठुमक कर नाचना बहुत ही मनोरंजक लगता है। होली में ढोल, नगाड़े, मजीरे, मृदंग, बांसुरी सभी का बजना और उस पर गाँव वालों का रंग खेलते हुए नाचना मनोरम लगता है। बैलों के गले की घंटियां, पायलों की छनछन, घुनघुने की आवाज सभी कुछ मौजूद हैं । फिल्म में संगीतकार नौशाद ने जितने बेहतरीन ढंग से गानों में संगीत पिरोया है वह उनकी गहरी लोक समझ का परिचायक है।

लोक-नृत्य/नाट्य

फिल्म मदर इंडिया में लोक नृत्य की झलकियाँ भी दिखती हैं। मेले में ढ़ोल की थाप पर ठुमक-ठुमक कर नाचता हुआ छोटा बिरजू (साजिद खान) न केवल नाच देखने वालों का मन मोहता है अपितु परदे के बाहर बैठे दर्शक को भी प्रभावित करता है, छोटे से बच्चे के नन्हे-नन्हे कदमों का पड़ना दिल में गहरा प्रभाव डालता है।

चंपा (कुमकुम) का नृत्य बहुत ही ज्यादा मनोहारी लगता है जब वह 'घूँघट नहीं खोलूंगी सइयां तोरे आगे' गीत गाते हुए ठुमकती है, नृत्य निर्देशक चिमणलाल सेठ ने जो छटा नृत्य के माध्यम से विखेरी है अद्भुत है, चंपा की बलखाती कमर, घाघरा को हाथ में थामें थम-थम के चलना सभी अंतस में उतरता चला जाता है। इस तरह के ठुमके हम अक्सर गांवों की स्त्रियों के नृत्यों में देखा करते हैं।

गाँव के लोगों को होली के अवसर पर "होली आई रे आई रे आई रे..." गाकर रंग गुलाल उड़ा-उड़ा कर नाचते देखकर मन फगुआ खेलने का करने लगता है। एक लड़की का लड़के का भेष बदलकर हाथ में खँजड़ी जैसा वाद्य यंत्र लिये कूद-कूद कर बजाना उसकी धुन पर चंपा का नृत्य करना बहुत फबता है, भगवान शिव की प्रतिमा के आगे रंग खेलते सभी नाच गा रहे हैं जिसे हम लोग हर गाँव घर में देख सकते हैं।

3.1.3 लोक-भाषा

'मदर इंडिया' लोक की फिल्म है, जिसकी पृष्ठभूमि गुजराती (वेशभूषा से) प्रतीत होती है परंतु प्रयुक्त भाषा के आधार पर कहा जा सकता है कि यह ब्रज, अवधी और खड़ीबोली के प्रदेश को द्योतित कर रही है।

इस फिल्म में लोकजीवन जितन सशक्त ढंग से आया है, भाषा भी उतने ही सशक्त ढंग से प्रयुक्त हुई है, जिसे संवादों और गीतों में देखा जा सकता है। गीतों में शकील बदायूनी ने ब्रज और खड़ी बोली के देशज शब्दों का प्रयोग सुन्दर ढंग से किया है।

विदाई के अवसर पर गीत की भाषा दृष्ट्व्य है-

" पिया के घर आज प्यारी दुल्हनिया चली,
रोवैं माता पिता उनकी दुनिया चली।"

यह गीत इतना मार्मिक और लोकग्राहय है कि विदाई के अवसर पर गाँव से विदा होती किसी बेटी पर आरोपित कर दिया जाये तो ये हर माता-पिता के हृदय से फूटा हुआ उद्गार लगेगा। ब्रज, अवधी खड़ी के देशज शब्दों ने गीत को ऊँचाई प्रदान की है।
'मदर इंडिया' का गीत "मतवाला जिया डोले पिया झूमे घरा छाये रे बादल, करना है तो कर प्यार न डर बीती उमर आयेगी न कल अरे पागल...."।

यह गीत उमंग और खुशी को द्योतित करता है, इस गीत में जहाँ एक तरह तुक का सुन्दर प्रयोग है वहीं पर लयात्मकता भी बनी हुई है।

"जोन्हरिया कटती जाये रे
उमरिया घटती जाये रे..."।

गीत में किसान के कष्टमय जीवन की चक्ररेखा को जिस सशक्तता से पेश किया गया है काबिले तारीफ है। प्रयुक्त सुन्दर शब्द-'ठगवा ठग ले जाये','भांग न बाचो जाय','दुनिया बढ़ती जाये'जैसे शब्दों में काव्यात्मकता को देखा जा सकता है।

नगरी-नगरी द्वारे-द्वारे ढूँढू रे संवारिया, पिया-पिया रट के मैं तो हो गयी रे बवरिया, गीत में ब्रजभाषा का सुन्दर प्रयोग किया गया है। शकील बदायूंनी ने बड़ी सिफ़्फ़त से इस गीत में ब्रज के साथ खड़ी बोली का समन्वय किया है। 'बिरहा की चिंगारी', 'हो गयी बंवरिया', 'छलके नयनों की गगरिया', ' जीवन की गठरिया', 'दो भूखे नैंना' में अभिव्यंजना की अनुपम छटा को देखा जा सकताहै। 'दुख भरे दिन बीते रे भइया,अब सुख आयो रे' गीत ब्रज और अवधी के सुन्दर समन्वय से बना बड़ा अल्हण देशज गीत है, जिसमें गाँव वालों के मन के उमंग, उछाह को देखा जा सकता है।

'घूँघट नहीं खोलूंगी,सइयां तोरे आगे..' गीत देशी बोलों की छटा के साथ-साथ नाटकीयता लिये हुये है, गीत का यदि यह पक्ष पढ़ा जाये तब भी आरोह अवरोह द्योतित होता

है। 'जियरा मोरा लरजे','बंसुरिया बजाके' 'नैनों में रसिया' आदि शब्दों के सुंदर समन्वय इस गीत को बहुत कलात्मक बना देते हैं।

' गाड़ी वाले गाड़ी धीरे हांक रे' बारात जाते समय की मस्ती, उत्साह, हँसी को व्यक्त करता चुटीला गीत है। 'जिया उड़ा जाये', 'दिल खाये हिचकोले', 'नथुनी होले डोले', 'नयनों वाले घूँघट', 'कजरे की डिबिया' 'धड़कन लागे छतिया', 'गोरा बदन मोरा थरथर कांपे' में देशक शब्दों का सुन्दर समन्वय काबिले तारीफ है। ये देशज शब्द ही गीत को प्रभावी बना रहे हैं।

'होली आई रे कन्हाई, होली आई रे कन्हाई, होली आई रे कन्हाई रंग छलके सुना दे जरा बांसुरी...' यह होली गीत इतना सहज और प्रभावी है कि आज भी होली के अवसर पर जब यह गीत बजने लगता है तो लोग झूम-झूम के नाचने लगते हैं, अभी तक दूसरा कोई फिल्मी होली गीत इतना सशक्त ढंग से नहीं आया है।

फिल्म के संवादों में भी लोकभाषा के प्रयोग को देखा जा सकता है। लोक में प्रयुक्त होने वाली लोरी, चंदा मामा दूर के पूड़ी पकाये बूर के...'का सुन्दर प्रयोग हुआ है फिल्म में मुहावरा लोकोक्तियों का भी प्रयोग हुआ है।

कुछ संवाद दृष्टव्य है-

1. सुक्खीलाल-सामू से-

'बच्चे भूखों मर रहे हैं,
तू औरत की खाये जा रहा है पसेरी भर दोनों जून'

2. राधा- सुक्खीलाल से-

'राधा के दाम न लगाओ लाला,
राधा का दाम उसके बच्चे हैं,
फसल पर आकर अनाज ले जाना।'

3. बिरजू-राधा से-

माँ पंडित को लड्डू देती है
हमको रोटी भी नहीं देती

रामू - ये तो ब्राह्मण हैं।

4. बिरजू-राधा से-

'माँ छोटा मुन्ना अंगुली भी नहीं चूसता।'

5. राधा-बिरजू से-

'फेंक दे चने, बिरजू फेंक दे,
तुझे चने चाहिए या माँ।'

3.2 तीसरी कसम

हिंदी के प्रतिष्ठित साहित्यकार फणीश्वर नाथ 'रेणु' की लोकप्रिय कहानी 'तीसरी कसम उर्फ मारे गये गुलफाम' पर प्रसिद्ध निर्देशक बासु भट्टाचार्य ने 'तीसरी कसम' नाम से फिल्म बनायी। सन् 1966 ई.में आई यह फिल्म निर्माता शैलेन्द्र के आत्मा की चित्र कविता थी वे गाँव के दुःख-दर्द, वहाँ की पीड़ा, भोलेपन, निच्छलता, सहजता के साथ-साथ उद्दात्त प्रेम को परदे पर दर्शाना चाहते थे, हीरामन और हीराबाई का यह नैसर्गिक प्रेम है जिसमें कृत्रिमता या बाजारूपन के कहीं दर्शन नहीं होते। हीराबाई को अपनी बैलगाड़ी में बैठाकर ले जाते हीरामन को एक अनुपम प्रेम की अनुभूमि होती है और यह अनुभूति की तीव्रता उतने ही गहन रूप में हीराबाई में भी प्रस्फुटित हुई है। कहानी का समस्त कथानक बिहार के पूर्णिया जिले का है। रेणु के संवाद, शैलेन्द्र और हसरत के ठेठ देशी गीत, राजकपूर और वदीहा का देशज अंदाज में बेहतरीन अभिनय, सुब्रत मित्र के सुंदर छायांकन मिलकर परदे पर कविता रचते हैं। अभी तक साहित्यिक कृतियों पर बनी फिल्मों में 'तीसरी कसम' जैसी कोई दूसरी सशक्त फिल्म नहीं आई जो साहित्यिक कृति एवं फिल्म दोनों के साथ सामंजस्य बिठाकर न्याय कर सकी हो।

गीतकार शैलेन्द्र ने इस फिल्म को बनाने के लिए अनेक कष्ट उठाये, आर्थिक परेशानियाँ झेली फिर भी इनकी महत्त्वाकांक्षा कम नहीं हुई। इनके अथक परिश्रम से ही तीसरी कसम का निर्माण संभव हो सका। यह फिल्म व्यावसायिक रूप से सफल तो नहीं हुई पर साहित्य और सिनेमा के पारखी मानते हैं कि इस फिल्म जैसी कोई दूसरी सशक्त फिल्म नहीं आ सकी जो लोक जीवन को रूपहले परदे पर व्यक्त करने में इतनी सक्षम हुई हो। इस फिल्म की सृजनात्मकता और कलात्मकता के लिए इसे उस वर्ष का राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला।

फिल्म की कहानी चोरबाजारी का माल लादकर रातोंरात निकलने वाले गाड़ीवानों से शुरू होती है, छुपी हुई पुलिस बैलगाड़ियों को पकड़ लेती है जिसमें अपनी बैलगाड़ी लिये गाड़ीवान हीरामन भी है पुलिस बोरों के बीच में छिपे हुए मुनीम को पकड़ लेती है और कहती है कि इस बार तुमको पांच साल की सजा और इन गाड़ीवानों को दो-दो साल की सजा, जेल के डर घबराकर हीरामन बैलों को खोल उन्हें हांकते हुए बेतहासा भागता है। घर आकर कसम खाता है कि वह कभी भी चोरबजारी का माल नहीं लादेगा। बांस लादकर ले जाते हुए रास्ते में पत्थर आ जाने से गाड़ी उससे फिसलकर एक टप्पर से टकरा जाती है वे लोग गाड़ीवान हीरामन की खूब पिटाई करते हैं तो वह कसम खाते हुए अपनी गाड़ी के बैलों से कहता है कि- 'कसम अब जो कभी बांस की लदनी लादूँ तो।'

रेलवे स्टेशन पर टप्पर वाली गाड़ी लगी है, हीरामन गाड़ीवान को सवारी मिली है। दरबलेरी के मेले में जनाना को पहुंचाना है। रात्रि का समय। विचित्र घबराहट है हीरामन के मन में। उसे गाड़ी के अंदर से रह-रहकर खुश्बू आती है गाँव-जवार में कहावत है कि चुड़ैल-पिचाशिन रूप धरकर आ जाती है, उल्लू, सियार की आवाज। वह रास्ते में भोले बाबा से कहता है- 'जाने कौन हो, रह-रहकर पीठ में गुदगुदी लगती है, रक्षा करो भोलेनाथ, हे महादेव रक्षा करो, सवा रूपये का परसाद चढ़ाऊंगा।' फिर गाड़ी लेकर वह आगे बढ़ता है परदे के अंदर झांक कर देखता है तो चौंक जाता है 'अरे ये तो परी है' हीराबाई जागकर कहती है 'परी,कहाँ परी है।' दोनों बोलते-बतियाते चलने लगते हैं हीराबाई को हीरामन की सहजता और भोलापन बड़ा अच्छा लगता है, वह उसे 'मीता' बना लेती है। गाड़ी लेकर जब हीरामन कजरी नदी के घाट पर पहुँचता है तो हीराबाई नहाने को जाती है वह उसे उस घाट पर नहाने से मना करता है और कहता है- 'यह महुआ घटवारिन का घाट है यहां कुँवारी लड़कियां नहीं नहाती, आप उस घाट पर नहा लीजिए'। हीराबाई महुआ घटवारिन की कथा पूछती है तो हीरामन बताता है-'इसी गाँव की लड़की थी यहां नहाती थी देखने में बिल्कुल परी जैसी। पुरानी कथा है। एक दिन एक सौदागर नाव लेकर इ घाट पर आया और महुआ को जबरदस्ती लेकर भाग गया, महुआ थी तो घटवारन पर उसकी माँ सौतेली थी, बाप ताड़ी पीकर बेहोश पड़ा रहता था, उसकी सौतेली मां साक्षात राक्षसिन थी, भरी पूरी दुनिया में कोई नहीं था उसका, कैसे कहूँ महुआ के रूप का बखान, हिरनी जैसी कजरारी आंखें, चाँद सा चमकता चेहरा, एड़ी तक लम्बे रेशमी बाल, जब वो मुस्कुराती तो जैसे बिजली कौंध जाती, भगवान जी ही ऐसा रूप भर सकते है माटी के पुतले में। जवान हो गयी थी महुआ फिर भी कहीं शादी ब्यारह की बात नहीं चलायी किसी ने, सुबह-शाम वो अपनी मरी मां को याद करके कलपती-रोती थी, एक दिन थका प्यासा मुसाफिर नदी किनारे पानी पीने आया, महुआ रीझ गयी, नादान थी वह, उसको दिल दे बैठी, जंगल की आग की तरह गाँव में फैल गयी थी प्यार की बात, सौतेली माँ भला कैसे देख सकती थी उसका सुख, उसने महुआ को एक सौदागर के हाथों बेंच दिया, रोती छटपटाती महुआ चली गयी सौदागर के साथ। बिछड़ गयी जोड़ी महुआ का प्रेमी जैसे आज भी रोता है।' और भी कई सारी बातें करते हुये वे मेले में पहुंच जाते हैं। हिरामन कहता है कि 'मेला आ गया' तो हीराबाई कहती है- 'इतनी जल्दी मेला आ गया।' बिरजू (जो टप्पर में हिराबाई को बैठा गया था) आकर हीरबाई को नौंटकी कम्पनी में ले जाता है, जाते हुए हीराबाई हीरामन को किराया देती है तो वह नहीं थामता, फिर ले लेता है मन दबाकर। वह उससे रात को नौटंकी देखने आने के लिए कह जाती है- नौटंकी देखने से डर रहें

हैं हीरामन और उसके दोस्त, वे आपस में वादा करते हैं कि नौटंकी की बात गाँव में कोई नहीं बतायेगा। रात को नौटंकी शुरू होती है, हीरामन और उसके दोस्तों को हीराबाई ने पास दिलवाया है, वे अठनिया दर्जा में जाकर बैठते हैं, एक शराबी के द्वारा हीराबाई को रण्डी कहने पर हीरामन उससे मारपीट कर लेता है, चारों तरफ अफरा-तफरी मच जाती है, हीराबाई उसे बुलाकर डांटती है 'मेरे लिये तुम्हें झगड़ा करने की क्या जरूरत थी, तुम कौन होते हो मेरे लिए लड़ने वाले' वह स्तब्ध रह जाता है। मन मसोसकर वह बैलों के पास चला जाता है, हीराबाई उसे बुलवाती है और दोनों के गिले शिकवे दूर होते हैं फिर वे गुलबदन का खेला साथ बैठकर देखते हैं, दोनों में धीरे-धीरे घनिष्ठ बढ़ती जाती है, हीराबाई हीरामन के साथ दूर गाँव में टहलने जाती है दोनों खूब हँसते-बतियाते हैं।

नौटंकी देखने आये जमींदार की नजर हीराबाई पर लग गयी है, वह उसे खरीदना चाहता है, कंपनी के सभी लोगों को उसने पैसे से खरीद लिया है वह हीराबाई के मना करने पर भी उससे जबरदस्ती करता है, वह उसको धकेलकर भाग जाती है, गुस्से में होकर हीरामन को मरवाने की धमकी देता है। हीराबाई नौटंकी छोड़कर जा रही है उधर हीरामन जब से लौटकर वापस मेले में आ रहा होता है तो उसे कुछ बातें भगत से पता चलती है वह तुरंत मेले में आता है परदे पर हीराबाई की तस्वीर की जगह नई तस्वीर देखकर वह लालमन से पूछता है लालमन बताता है कि 'अभी जो ट्रेन जाने वाली है उससे हीराबाई जा रही है, शायद ट्रेन चली भी गयी हो। बैलों को भगाता हुआ हीरामन स्टेशन पहुँचता है, जैसी ही हीराबाई को देखता है बीच में ट्रेन आ जाती है, वह ट्रेन के नीचे से घुसकर उसके पास आता है दोनों की आंखे नम हैं, हीराबाई उसे उसका बटुआ देती है, शाल देती है और कहती है तो तुम्हारी मीता बिक गयी दलाल बिरजू हीराबाई को ट्रेन पर चढ़ने को जल्दी-जल्दी कर रहा है, हीराबाई ट्रेन पर बैठ जाती है, हीरामन फटी-फटी आंखों से देखता रह जाता है वह आकर बैलगाड़ी पर बैठता है, पीछे मुड़कर देखता है और गुस्साकर बैलों को मारने चलता है तो अचानक आवाज गूँजती है 'मारो मत!' हीरामन कहता है पीछे मुड़कर क्या देख रहा है 'खाओ कसम की नौटंकी की बाई को गाड़ी पर कभी नहीं बैठाओगे।' यह तीसरी कसम थी।

3.2.1 लोक-संस्कृति

फिल्म 'तीसरी कसम' मूल कहानी की ही तरह से लोक अंचल को दर्शाती है। यह फिल्म स्वार्थो की दुनिया से दूर ले जाने वाली कथावस्तु पर आधारित है, जहां गाँव है, नदी है, रास्ते हैं, पगडंडियां हैं, बैलगाड़ी है, गाड़ीवान की दर्दीली आवाज में गूँजता अंचल कछार है। आंचलिक कथाकार 'रेणु' की इस कहानी में लोक संस्कृति की गंध विद्यमान है, जिसकी सीधी छाप फिल्म पर दिखती है। गीतकार शैलेन्द्र तड़क-भड़क की इस माया नगरी मुम्बई को लोकजीवन से परिचित कराना चाहते थे, उनके अनुसार मोटरकार में, समुद्र की रेत के किनारे बैठकर ही प्रेम नहीं हो सकता, वह निर्धन गाड़ीवान के उस परिवेश के मध्य भी हो सकता है। इन ग्रामीणों को जिन्हें लोग गंवार कहते हैं, इसके यहाँ ही सच्चा प्यार विहँसता है, सारी दुनिया के राग-द्वेष से मुक्त ये अपने में मस्त रहते हैं। 'तीसरी कसम' फिल्म को देखकर मिट्टी की गंध का अनुभव होता है। फिल्म के पात्र पाठकों से साकार रूप में बोलते प्रतीत होते हैं। राजकूपर अपनी पूरी भावनाओं के साथ इस फिल्म में उतरे हैं, राजकपूर पर पूरी तरह 'हीरामन' हावी है उसी तरह से वहीदा पर 'हीराबाई' भी।

बिहार के पूर्णिया अंचल के दर्शकों में राजकपूर और वहीदा की कोई पहचान नहीं है। उनकी सच्ची पहचान तो हीराबाई, हीरामन में ही है, बैलों को लेकर दो साल की जेल से डरकर भागते हुये रात में झुरमुट के मध्य हीरामन गाड़ीवान की बेचैनी स्पष्ट देखी जा सकती है। हीराबाई से बात करते हुए हीरामन की वाणी में कसक है तो मिठास भी, अपनापन है तो कही-कही अपनो से दूर होने की पीड़ा थी।

बैलों के वार्तालाप में शैलेन्द्र ने बिल्कुल देशी बोली का प्रयोग किया है। ऐसा लगता है राजकपूर बिहार के रहने वाले हैं- 'कान चुनिया कर गप सुनने से ही तीस कोस मंजिल कटेगी क्या? इस बांये नाटे के पेट में शैतानी भरी है।' हिरामन 'जियरा हमरा तनिकौ न माने बलमुआ बुला दे रे कोय ।' छोकरा नाच गीत गाते हुए कहता है कि अब कोई गजल, खेमटा नहीं सुनता, सब भोंपू पर भेंपू-भेंपू चिल्लाते हैं।

उत्तर भारत के पिछड़े अंचलों में लगने वाले मेलों का जीवंत प्रमाण इस फिल्म में मिल जाता है। इस फिल्म ने नौंटकी को समूचे देश में पहचान दिलाई, वहीदा ने तो ठेठ नौटंकी की नाचने वाली बाई को मूर्तिमान ही कर दिया है। वैसे तो 'तीसरी कसम' नौटंकी में नाचने वाली एक बाई और गाड़ीवान के बीच उपजी प्रेम की कहानी है, लेकिन यात्रा के बीच में

आया कजरी नदी के घाट पर महुआ घटवारन का मार्मिक प्रसंग, सड़क की लीक छोड़कर जाने का प्रसंग, रात के समय भगवान महादेव से मनौती मानने का प्रसंग, हीरामन के दोस्तों का ढोलक, मजीरा, खझड़ी लेकर 'चलत मुसाफिर मोह लियो रे पिंजरे वाले मुनिया' गीत गाने का प्रयोग हो हीरामन के बड़े भाई का जमींदार के डर से घर में घुसकर छुपने और उसकी भउजी का आकर कहना- 'बाहर गये हैं', का प्रसंग हो लोक संस्कृति की बेहरतीन स्मृतियां हैं जो फिल्म को ग्रामीण जीवन का आइना बना देती है।

3.2.2 लोक-गीत, लोक-संगीत व लोक-नृत्य

लोक-गीत

फिल्म 'तीसरी कसम' लोक गीतों का खजाना है। फिल्म में लोक गीत माला के मोती जैसे पिरोये गये हैं। बिहार के पूर्णिया जिले के परिवेश को जीवंत करते हैं ये लोकगीत। राह चलते हीरामन का छोकरा नाच गीत गाने लगना कितना सहज लगता है- 'जियरा अब तो तनिको न माने, बलमुआ बुला दे रे कोय, हाये राम बलमुआ, बुला दे रे कोय।'

फिल्म का गीत 'दुनिया बनाने वाले क्या तेरे मन में समायी काहे को दुनिया बनायी...' हर गाड़ीवान के मुंह से सुनायी देता है। महुआ घटवारिन की याद में बना यह गीत न जाने कितने गाड़ीवानों के कण्ठ से फूटा है। गीत का अंतरा-'प्रीत बनाके तूने जीना सिखाया, हँसना सिखाया रोना सिखाया, जीवन के पथ पर मीत मिलाये, मीत मिला के तूने सपने जगाये, सपने जगाके तूने काहें को दे दी जुदाई...।' गांवों वालों की आत्मा उतारकर रखा देता है।

गीत 'सजनवां बैरी हो गये हमार, चिठिया हो तो हर कोई बांचे,भाग न बांचे कोय, कारमवा बैरी हो गये हमारा।' में प्रेम की पीड़ा अभिव्यक्त हुयी है। गीत की अन्य पंक्तियां -

'सूनी सेज गोंद मोरी सूनी, मरम न जाने कोय, छटपट तड़पे प्रीत बेचारी,ममता आसूं रोय।' हीरामन के जीवन के सारे विरह,अभाव छटपटाहट को उड़ेल देती हैं जो गांवों के तमाम विधुरों के जीवन पर आरोपित किया जा सकता है।

गाँव की पगडण्डियों से हीराबाई को बैलगाड़ी पर बिठाये हुये ले जाना और पीछे-पीछे गाँव के बच्चों का उल्लासमय होकर गाना- "लाली लाली डोलिया पे लाली रे

दुल्हनियां..पिया की पियारी मतवारी से दुल्हनियां ..” बहुत मार्मिक लगता है,बच्चे जब गीतों में कहते हैं- “लौटेगी जो गोदी भर हमें न भुलाना ,लड़डू पेड़े लाना अपने हाथों से खिलाना ,तेरी सब रातें हो दिवाली रे दुल्हनियां” तो ग्रामीण संस्कृति जैसे खिलाखिला पड़ती है। जहां के गांवों में यातायात के साधन बैलगाड़ी जैसे वाहन हैं, वहां के बच्चों के लिये कितनी रोचक और खुशहाली वाला होता है बैलगाड़ी।

लालमान (कृष्णधवन) पंडित (विश्वमोहन) हीरामन आदि के द्वारा गाया गया गीत- 'चलत मुसाफिर मोह लिया रे, पिंजरे वाली मुनिया, उड़-उड़ बैठे हलवइया दोकनिया,बर्फी के सब रस ले लिया रे, पिंजरे...।' ढोल मंजीरा, ढपली पर बजाया गया यह गीत लेकर रंग की अनुपम छटा लिये हुये है। लोक रंग के ऐसे गीत फिल्मों में बहुत ही कम सुनने को मिलते हैं।

'पान खाये सैंया हमार, सांवली सूरतिया होठ लाल लाल, हाय, मलमल का कुरता, मलमल के कुरते पे छींटे लाल-लाल।' गीत लोक की रंगीनी लिया हुआ अमर गीत है जिसमें गांवों घरों में होने वाले पत्नी-पति के शिकवे-शिकायत मोहक अंदाज में व्यक्त किया गया है। शैलेन्द्र लोक संस्कृति को बड़ी सूक्ष्मता से पकड़ते थे, एक-एक चीजों पर उनकी नजर रहता थी, तभी तो सांझ की दीया-बाती, बनारस का जर्दा, सुरमेदानी जैसे लोक प्रसिद्ध घटनाओं, लोक व्यवहारों के शब्दों का सटीक प्रयोग कर सके हैं। आशा भोंसले ने इसे ठेठ अंदाज में गाया भी है।

फिल्म में नौटंकी के अन्य गीत 'आ आ आ, आ भी जा, रात ढलने लगी चाँद छुपने चला आ...।' 'यही ख्वाहिश है कि तुम मुझे देखा करो दिलो जानी मैं तुमको देख करूं...।' लोक की छटा से भरे हुये हैं ये गीत, जिसे गाँव-गिरांव का हर आदमी मगन होकर सुनता है।

लोक-संगीत

फिल्म के लगभग सभी गीत लोकधुनों पर आधारित हैं। लोक की एक से बेहतरीन धुने उस पर लोक प्रचलित वाद्य ढोल, ढपली, मजीरा, नगाड़ा सभी की संगत चार-चांद लगा देती है। फिल्म के बैकग्राउण्ड में बजती मद्धिम-मद्धिम बासुंरी की धुन पूरी फिल्म को मार्मिकता प्रदान करती है। शंकर-जयकिशन ने तो लोक धुनों की नब्ज ही पकड़ ली है ऐसा लगता है की मीठा-मीठा हाल गीतों में बताये चले जा रहे हैं।

लोक-नृत्य/नाट्य

फिल्म में 'नौटंकी कंपनी' के तमाशे और नृत्यों को देखकर मन भाव-विभोर हो जाता है। हीराबाई 'नौटंकी कंपनी' के स्टेज पर आने वाली है, दर्शक दीर्घा के बैठे लोग बेताब हैं उसके स्टेज पर आते ही ग्रामीणों के कलेजे उमग जाते है जब वह 'पान खाये सैयां हमारों...' गाते हुये ठुमका लगाती है तो ग्रामीण दर्शक अपना तारतम्य जोड़ लेता है।

उत्तर प्रदेश के कानुपर की नौटंकी पूरे भारत में मशहूर है... उसको तीसरी कसम फिल्म में दिखाकर लोक संस्कृति के प्रति आस्था तो व्यक्त की ही गयी है साथ में यह भी बताया गया है कि फिल्मी कृत्रिमता से अलग सहज लोक नृत्यों में भी भरपूर मनोरंजन हो सकता है।

3.2.3 लोकभाषा

'तीसरी कसम' की भाषा लोक की भाषा है, जिसमें भोजपुरी मगही का पुट है। निर्माता शैलेन्द्र फिल्म को मूल कहानी 'मारे गये गुलफाम' जैसे ही रखना चाहते थे अत: उन्होंने मूलकथा के रचनाकार फणीश्वर नाथ रेणु से संवाद लिखवाये जो फिल्म के सशक्त पक्षों में से एक है। रेणु के संवादों में सहजता के साथ-साथ देशी ठेठपन भी है जो पूरी फिल्म को कसकर पकड़े रहती है। संवादों के बीच में (हीरामन या अन्य गाँव वालों के बोलने में) देशी शब्दों का आना अपनापन महसूस करा जाता है। लोक भाषा के संवाद सुनकर ऐसा लगता है कि पात्र जीवंत परिवेश से उठाकर फिल्म में रख दिये गये हों।

चाय पीते हुये एक व्यंक्ति का संवाद-

'मन होय तो हाथ बढ़ाके परदो छू लो, यन यन कटगर छोरी के फोटो, आ हा हा...पिस्तौल वाली, तमंचा जान, घोरा पर हाथ परल तूरतें फैट भयेल'।

हीरामन का संवाद लालमन से-

'देख लालमन तू भी बेसी भचर-भचर मत कर, हाँ, हम लोगों के देश मुलक की जनाना नहीं है जो लटपट बात सुनकर भी चुप रह जाये एकदम पश्चम की है, वो भी कंपनी।'

हीरामन हीराबाई से-
'अच्छा बताइये आपका घर कौन से जिल्ला में पड़ता है।'

हीरामन हीराबाई से-

'ऐसी आवाज मैंने कभी नहीं सुनी बच्चों के जैसी महीन एकदम फेनूगिलासी।'

हीरामन हीराबाई से-

'आपका मुंह छोकरा नाच के मनुआ नटुआ जैसा दिखता है।

हीराबाई हीरामन से-

मेरा चेहरा छोकरे जैसे दिखता है?

हीरामन हीराबाई से -

नहीं, उसका चेहरा छोकरी जैसा दिखता है।

इतने बेहतरीन संवाद जिनमें मानो पूरा लोक समा गया हो, सहज संवादों में भी एक राज है हर कहे गये शब्दों वाक्यों के पीछे कई अर्थ छुपे पड़े हैं।

हीरामन हीराबाई से- आप ये बटुआ रख लीजिए कोई पाकिट मार लेगा तो...

हीराबाई हीरामन से - मैं मार लूँ तो

फिल्म में लोक की कहावतों, नाचगीतों का सुन्दर प्रयोग हुआ है- 'फटे कलेजा गाओं गीत दु:ख सहने का यही रीत। 'छोकरा नाच गीत- 'जियरा अब तो तनिको न माने बलमुआ बुला दे रे को ये, हाये राम! बलमुआ बुला दे रे कोया। फिल्म में बच्चों द्वारा टप्पर गाड़ी के पीछे-पीछे दौड़ते हुए गाया जाता गीत- 'लाली लाली डोलिया पे लाली रे दुलहनिया, पिया की पियारी मतवारी रे दुलहानिया...।' मानो लोक संस्कृति को उड़ेलकर रख देता है। छोटे-छोटे बच्चों काघरों से निकल-निकल कर टप्पकर गाड़ी के पीछे-पीछे ताली बजा-बजाकर गाना गांवों की सहजता को जीवंत कर देता है। इस गीत का दृश्यांकन देखते हुऐ मानों गाँव कलेजे में उतर जाता है। हीरामन द्वारा गाया गीत- 'सजनवाँ बैरी हो गये हमार, बलमवां बैरी हो गये हमार...' स्थानीय बोली से उपजा ऐसा गीत है जो न जाने कितने गाँव वालों के जीवन पर सटीक बैठ जाता है। फिल्म में आये हुए फेनूगिलासी, हिरानी, घटवारिन, अठानियां, गिलौरी, तमासबीन जैसे अनेक शब्द देशी गुड़ के स्वाद जैसे हैं। भाषा के बारे में हीराबाई की बात सटीक लगती है - "तुम्हारे यहाँ की भाषा में गीत और भी मीठा लगता है, जी चाहता है सुनती ही जाऊ।"

3.3 नदिया के पार

पारिवारिक ग्रामीण जीवन को परदे पर जीवंत करने वाली 'नदिया के पार' 1982 की बहुचर्चित फिल्म रही है। फिल्म की कहानी, गीत, संगीत, संवाद सभी में ग्रामीण परिवेश की सशक्त छवि को देखा जा सकता है।

हिन्दी उपन्यासकार केशव प्रसाद मिश्र के उपन्यास 'कोहबर की शर्त' से इसकी आधार कथा को उठाया गया है। मध्यांतर के पहले तक फिल्म उपन्यास के कथावस्तु के हिसाब से ही चलती है, मध्यांतर के बाद फिल्म की कहानी उपन्यास से इतर हो जाती है।

राजश्री बैनर तले बनी यह फिल्म पूर्वी उत्तर प्रदेश के परिवेश को जीवंत करती है। अवधी,भोजपुरी मिश्रित भाषा में प्रस्तुत संवाद और गीत फिल्म को गाँव से जितनी सशक्तता से जोड़ते हैं शायद हिंदी (मानक) भाषा के होने से यह संभव न हो पाता। यह फिल्म छोटे शहरों इलाहाबाद, जौनपुर, सुल्तानपुर, फैजाबाद में खूब चली, कारण यह कि छोटे शहर मध्यवर्गीय ग्रामीण लोगों की पहुँच में आते थे।

इस फिल्म में कहानी के साथ हम ग्रामीण परिवेश के पर्व-त्योहार, छठी-बरही, नेवता-हकारी, खेलकूद, खेती-बारी, बाग-बीरो, नदी-नहर, ग्राम देवी-देवता, हल-बैल, पहेली, मुकरी, लोरी, सोहर सभी कुछ मौजूद हैं जो फिल्म को ठेठ ग्रामीण बना देता है। यही ठेठपन फिल्म को ग्रामीण जीवन की आख्यायिका बना देती है। गोविन्द मोनिस के निर्देशन में आई यह फिल्म 'नदिया के पार' पूर्वी उत्तर प्रदेश के किसी गाँव बलिहार के एक ब्राह्मण किसान (तिवारी) के परिवार से संबंधित है। तिवारी काका अपने दो भतीजों ओंकार (इन्द्रठाकुर) और चंदन (सचिन) के साथ रह रहे होते हैं। एक बार तिवारी बीमार पड़ जाते हैं बीमारी के तेज होने पर ओंकार चंदन को नदी पार दूसरे गाँव (चौबेपुर) से वैद्य को बुला लाने के लिए भेजता है। नाव से उतरते ही चंदन का सामना नदी किनारे बर्तन मांजती वैद्य की छोटी बेटी गुंजा (साधना सिंह) से हो जाता है, गुंजा से नोंक-छोंक कर चंदन जब वैद्य के घर पर पहुँचता है तो वैद्य को समस्या बताकर साथ चलने का आग्रह कर रहा होता है कि तभी गुंजा आ जाती है। वे दोनों एक दूसरे को देखकर चौंक जाते हैं। चंदन वैद्य को लेकर गाँव जाता है। वैद्य जी के दवा से कुछ ही दिनों में तिवारी काका ठीक हो जाते हैं। वैद्य से जब तिवारी फीस की बात करते हैं तो वैद्य जी फीस न लेकर तिवारी काका से एक अरज करते हैं कि -उनके भतीजे ओंकार (इंन्द्र ठाकुर) का ब्याह उनकी (वैद्य जी) बड़ी बेटी रूपा (मिताली) से हो जाये। काका बिना दान-दहेज वैद्य जी का आग्रह स्वीकार कर लेते हैं फलस्वरूप ओंकार से रूपा का ब्याह तय हो

जाता है।

ब्याह धूम-धाम से सारे रस्मों-रिवाज के साथ पूरा होता है। रूपा ब्याहकर ससुराल आ जाती है, तिवारी का श्मसान सा घर मंदिर बन जाता है, बहुरिया आकर पूरे घर का काया पलट कर देती है। खुशियों के चार-चांद लग जाते हैं। कुछ ही दिनों में रूपा गर्भवती हो जाती है। अपनी मदद के लिए छोटी बहन गुंजा को लाने चंदन को अपने मायके भेजती है। गुंजा चंदन के साथ हरे-भरे खेतों, बागों को देखते हुये हुए बैलगाड़ी पर बैठकर दीदी के घर आ जाती है। आते ही वह बड़ी होशियारी से घर का सारा काम संभाल लेती है। रूपा सुन्दर से मुन्ने को जन्म देती है, धूम-धाम से बच्चे की छठी बरही होती है, इसी बीच होली का त्योहार भी आ जाता है, गुंजा होली का त्योहार मनाकर अपने गाँव वापस आ जाती है। इन दिनों में गुंजा और चंदन के बीच प्यार हो जाता है, फलत: चंदन का मन हमेशा चौबेपुर में ही लगा रहता है।

नाती को देखने की इच्छा उसकी नानी को होती रहती है। फलत: वैद्य जी को चौबेपुर कुछ दिनों के लिए बुलवा भेजते हैं। चंदन रूपा को लेकर चौबेपुर आ जाता है। चंदन और गुंजा के प्यार को रूपा भांप लेती है। वह माता-पिता और पति से इन दोनों का ब्याह कराने की बात करने को कहती है, ये दोनों खुश हो जाते हैं।

मुन्ने को पाकर नानी, मौसी, नाना सभी बहुत खुश हैं। बच्चे की किलकारी से सारा आंगन दिन भर गूंजता रहता है। एक दिन मुन्ना घुटुरवन चलते हुए आग के पास पहुँच जाता है उसको बचाने के लिए दौड़ी रूपा सीढ़ियों से फिसल कर गिर जाती है सर में गहरी चोट लगने से उसकी मौत हो जाती है। चारों तरफ मातम ही मातम फैल जाता है, ओंकार तो जैसे पत्थर सा हो जाता है।

मुन्ने के अपनी मौसी से हिलमिल जाने से वैद्य और उनकी पत्नी चिंतित हो जाते हैं, इस चिंता का समाधान उन्हें ओंकार और गुंजा की शादी में नजर आता है। गुंजा से बताये बगैर तिवारी गुंजा का ब्याह ओंकार से तय कर देते हैं। भाई के सुख भतीजे के परवरिश का ख्याल रखकर चंदन चुप रहा जाता है। ओंकार की स्वीकृति पाकर वैद्य गुंजा के ब्याह में लग जाते हैं। गुंजा को लगता है कि उसकी शादी चंदन से हो रही है सो वह प्रसन्न रहती है, जब दरवाजे पर बारात पहुँचती है तो गुंजा की सहेली चंदन की जगह ओंकार को दूल्हा बना देखकर हतप्रभ रह जाती है, वह गुंजा से बताती है पर गुंजा नहीं मानती, आकर देखती है और मूर्छित हो जाती है। विवाह की रस्म किसी तरह पूरी करती है, फेरे के वक्त वह फिर गिरकर

बेहोश हो जाती है उसे भीतर लाया जाता है होश आने पर वह अपने पिता से पूछती है कि उन्होंने उसके साथ छल क्यों किया?पिता समझ नहीं पाते तो गुंजा की सहेली सारी बात वैद्य जी को बताती है। वैद्य जी गुंजा को दिलासा देते हैं और उनकी (वैद्य जी) पगड़ी की लाज रखने को कहते है बात ही बात में वे बताते हैं कि चंदन तो वहां मौजूद था उसने तो कुछ नहीं कहा तय तमाम के वक्त।

चंदन जब गुंजा से एकांत में मिलने आता है तो गुंजा चंदन से पूछती है कि उसने ऐसा क्यूँ किया? चंदन अपने बड़े भाई के प्यार और दुलार को याद कर सारी व्यथा कह सुनाया चंदन की बात सुनकर दु:खी हुई गुंजा चंदन के प्रति श्रद्धेय हो जाती है, उसे देवता की पदवी देती है, बाहर खड़ा ओंकार इन दोनों की बात को सुनकर कहता है' तुम लोग यह सब क्या बतिया रहे हो, तुम दोनों को दु:खी देखकर क्या मैं सुखी रह पाऊँगा, गुंजा तुम्हारा ब्याह चंदन से ही होगा जिसे तुम परमेश्वर मान रही हो वही तुम्हारा पति भी होगा।'

3.3.1 लोक संस्कृति

गाँव की माटी को केन्द्र में रखकर बनायी गयी है फिल्म 'नदिया के पार'। यह लोक संस्कृति के सारे रंगों से सराबोर है। फिल्म के केंद्र में खेती-किसानी करने वाले सहज,सरल और मेहनती लोग हैं। इनके यहां गांवों में होने वाले सभी रस्म रिवाज दिखायी देते हैं।

ओंकार के लड़का होने पर गाँव की बहुरियों द्वारा गाये जाने वाला सोहर - 'जनम लियो, जनम लियो, आज कन्हैया जनम लियो...' को आज भी हम गाँवों में सुनते हैं।

होली के अवसर पर गाया गया फगुआ गीत, गाँव वालों की मस्ती, रंग-अबीर के साथ भंग पीकर झूम-झूम कर नाचना, महिलाओं द्वारा पुरुषों का स्वांग रचकर फगुआ गीत गाना, रंग से भरे लोटे को देवरों पर डालना, गाँव की चाची, भाभियों का ढोल की थाप पर ठुमक-ठुमक कर नाचना सभी कुछ फिल्म द्वारा प्रस्तुत की गयी गाँव की यथार्थ और मनोरम छवियाँ है। चंदन-गुंजा के नदी के घाट पर उरझने, नाव को पानी में बहाने, पीने के पानी में नमक डालने, लेप की जगह धनिया मिर्चे की चटनी लाने जैसे दृश्य बहुत ही चुटीले एवं मनोरंजक है जिनको आज भी हम गांवों में अक्सर में देख सकते हैं।

धान की कटाई, गन्ने की बुवाई, हलवाही, बगुलों का सींचे हुए खेत के ऊपर उड़ना, मोर का नाचना, छोटे छोटे बच्चों द्वारा सायकिल के टायर को डण्डे से घुमाते हुए ले जाना गाँव के यथार्थ चित्र लगते हैं। फिल्म में बुढ़्ढो के नौंटंकी प्रेम, नाउन ठकुराइन से होने वाले मीठे नोंक-झोंक को बहुत ही अच्छे ढंग से दिखाया गया है।

विवाह संस्कार जीवन का प्रमुख संस्कार माना जाता है। गाँवों में विवाह के दस दिन पहले से ही विभिन्न प्रकार की रस्मे होने लगती है। नॉत-बॉत, हित-व्यवहारिक सभी लोगों से घर भरा रहता है। विवाह के अवसर पर गाँव की महिलाओं द्वारा रात भर गीत गाया जाता है। दूल्हे को उस की सालियां कोहबर में तरह तरह से रस्म करवाकर उनके लोक ज्ञान को जांचती है। नदिया के पार फिल्म में कोहबर में सुपारी का प्रसंग, चावल नापने का प्रसंग, दिया मिलवानी, कोहबर का जुआ, सभी देखने योग्य है।

ग्रामदेवी-देवताओं से मनौती मानने वाले गाँव के लोग बहुत विश्वासी और आस्थावान होते हैं जो अपने सारे दु:ख-सुख भगवान पर छोड़े रहते हैं। यह सब भी इस फिल्म में देखा जा सकता है। गाँव में होने वाले छोटे-छोटे कार्य जैसे- लिपाई, सुखवन फैलाना, पछोरना, फटकारना, बैलों को चारा-भूषा करना, चटनी मसाला पीसना, कुएं से पानी निकालना, दाना चबाना को भी फिल्म में सूक्ष्मता से दिखाया गया है। नदी किनारे बसे गांवों में हम आज भी महिलाओं को बर्तन धुलते, कपड़ा पछारते देख सकते हैं, इस फिल्म में नदी पर बर्तन मांजने और नाव के टकराने का प्रसंग बहुत ही सटीक बन पड़े है।

नदिया के पार फिल्म में पारिवारिक जीवन की छवियाँ बहुत है। लोक का पारिवारिक रंग इस फिल्म में जितने बेहतरीन ढंग से उभर कर आया है हिंदी सिनेमा के अन्य किसी भी फिल्म में उतने सशक्त ढंग से नयी आया। यह फिल्म ग्रामीण जीवन पर लिखी गयी कविता सी लगती है, जिसमें सुख-दु:ख से अलग जीवन का राग है, प्रेम की प्रतिष्ठा है, माटी की महक है, लहलहाते खेतों का मनोरम नृत्य है।

3.3.2 लोक गीत, संगीत/ नृत्य

'नदिया के पार' फिल्म का गीत, संगीत, नृत्य इसका सबसे सशक्त पक्ष है गीत के बोलों में ग्रामीण जीवन का सार समाया हुआ है, गांवों में सभी शुभ अवसरों पर गीत गाने की जो परम्परा है वह बहुत पहले से चलती चली आ रही है। शुभ अवसरों पर ग्रामीण केवल गीत ही नहीं गाते अपितु वाद्य बजाने के साथ-साथ नृत्य भी करते हैं। ढोलक की थाप एवं हारमोनियम की धुन सुनते उनका मन मयूर हो जाता है।

'नदिया के पार' फिल्म में विभिन्न अवसरों पर गाये गीतों की बात करें तो- ओंकार और रूपा के ब्याह के अवसर पर गुंजा और उसकी साखियों द्वारा गाया गया गीत- 'जब तक पूरे न हो फेरे सात, तब तक दुलहिन नहिं दुलहा की...' हिन्दू धर्म के स्त्री -पुरुष के वैवाहिक संबंधों को रेखांकित करता है यह गीत। सात फेरों के अवसर पर पुरुष स्त्री को सात वचन देता है जिनका वह जीवन भर निर्वाह करता है।हिंदू धर्म में ब्याह समझौता न होकर दिलों का मेल होता है। स्त्री पुरुष एक दूसरे से भावना के स्तर पर जुड़ते हैं इस जुड़ाव को यह बंधन जन्म-जन्मांतर तक बनाये रखने की बात करता है। गाने में एक जगह सखियां कहती हैं कि-

'उठो उठो बबुल देखो ध्रुवतारा, ध्रुवतारे सा हो अमर सुहाग तुम्हारा'।

यहाँ पर यह बताया गया है कि यह रिश्ता युग-युगांतर तक बना रहे अपने पूरे प्रेम और अटल विश्वास के साथ।रवीन्द्र जैन जैसे लोक के मर्मज्ञ संगीतकार की धुनों पर हेमलता और सखियों ने इतने जतन से इन गीत को गाया है कि सीधे हृदय में उतरता चला जाता है।

फिल्म के गीत 'सांची कही तोरे आवन से हमरे, अंगना में आईल बहार भउजी, लक्षमी की सूरत, ममता की मूरत लाखों में एक हमार भउजी...' में देवर का अपनी भाभी के प्रति आदर और सम्मान है, उस भाभी के प्रति जिसने घर को घर बनाया, वह घर जो 'बिन घरनी घर भूत का डेरा...' बना हुआ था रूपा के आने से चारों तरफ चमक ही चमक दिखलाई देती है पूरा घर धन-धान्य से परिपूर्ण हो जाता है। आज भी हमारे गांवों में माना जाता है कि सुलक्षनी बहू के पाँव घर में पड़ते ही घर के सब दु:ख दरिद्र दूर हो जाते हैं। फिल्म का बेहद लोकप्रिय गीत 'कवने दिशा में लेके चला रे बटोहिया...' में गाँव की सुंदरता परदे पर बखूबी दिखती है।

- तंग करने का तोसे नाता रे गुजरिया।

  कितना अपना लगन लगे जब कोई बुलाये ले के नांव रे, नाम न ले तो क्या
  कह के बुलाये कैसे चलाये काम, साथी मितवा या अनारी कहो गोरिया।
  हे गुंजा उस दिन तोरी सखियाँ करती थी क्या बात हो, कहती थी तोरे साथ
  चलन को तो आ गये हम तेरे साथ रे साथ हो।

पंक्तियों में नये पनपते रिश्ते की झानबीन एक दूसरे के द्वारा की जा रही है, वो भी सहज और सटीक अंदाज में, इन गीतों की धुन बहुत ही सुंदर देशी ढंग की है जिसमें बजने वाले ढोलक बांसुरी जैसे ग्रामीण वाद्य यंत्रों को सुना जा सकता है।लोक के त्योहारों में होली का त्योहार बहुत ही मनोरंजक एवं अल्हड़पन के साथ मनाया जाता है। इस अवसर पर लोग फगुआ गा गाकर ढोल, मजीरा, झांझ बजाकर नाचते हैं। इस फिल्म में 'होली के अवसर पर बजा फगुआ गीत 'जोगी जी धीरे-धीरे...' देशजता की मिठास से युक्त कंठ आग्रही गीत है।

गीत को पंक्तियों-

कोई ढूँढे मूंगवा कोई ढूँढे मोतिया, हम ढूँढी अपनी जोगानिया,
सारे गावं की गोरिया, रंग गयी हमपे डाल।
पर जिसके रंग हम रंगे, छुप गयी वो गुलनार
फागुन आयो मस्ती लायो,भरके मारे पिचकारी सारा रा रा रा...।

में फाग की मस्ती अल्हड़ता सभी देखी जा सकती है। फिल्म में गीतों के साथ संगीत भी बहुत प्रभावी है। सूप, थाली सभी से धुने निकाली गई है, गाँव के वाद्य यंत्रों का पूरी फिल्म में प्रयोग हुआ है।

छठी के अवसर पर ढोल बजाकर गाती गाँव की महिलाओं की आवाजों की लयात्मकता कर्णप्रिय लगती है। फिल्म में नृत्य के अवसर बहुत कम आये हैं, फागुन के अवसर पर गुंजा, चंदन, जोगी, नाऊन सभी का नृत्य देखने लायक है। चंदन का ठुमक-ठुमक के नाचना बड़ा अच्छा लगता है। सारा रा रा... करते हुए गुंजा और रज्जो का उझल-उझल कर नाचना बहुत सुंदर लगता है।

3.3.3 लोक भाषा-

लोकभाषा में ग्रामीण शब्दों का भंडार होता है, 'नदिया के पार' फिल्म में अवधी, भोजपुरी मिश्रित भाषा का प्रयोग किया गया है। फिल्म में पूर्वी उत्तर प्रदेश का परिवेश झलकता है, गीतों 'जोगी जी धीरे-धीरे नदी के तीरे-तीरे...' 'जब तक पूरे न हो फेरे सात...' 'कवने दिशा में लेके चला रे बटोहिया...' में अवधी भोजपुरी के देशज शब्द भरे पड़े हैं। इन गीतों को बम्बई के ढाँचागत गीत परम्परा से अलग ग्रामीण रस्मों-रिवाज, मिथक, स्नेह, प्रेम को ध्यान में रखकर लिखा गया है।

फिल्म के संवादों की भाषा सरल और आम जन-जीवन की है, संवादों बोलने वाले पात्र कही से भी नहीं लगते कि अभिनय कर रहे हैं, लगता है इनके जीवन की ही कहानी चल रही है। फिल्म में आये कुछ प्रमुख संवादों को देखने से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है -

रज्जो - चंदन से-

'सामने दिखाई नहीं देती,
सपने में बुलाहट सुनते हो।'

चंदन-वैद्य से-

'नाव का अपने आप से बह गयी है,
बहायी गयी है।'

चंदन-रज्जो से-

'बइठे कै फुरसत नाही है महारानी जी।'

गुंजा-चंदन से-

'तो का द्वारे पे कोई आये तो डण्डा लेकर खदेड़ा जाये।

चंदन-ओंकार से-

'वैद्य जी की लड़की से थोड़ा होशियार रहना,
बड़ी झगड़ालू है।'

तिवारी-नाउन ठकुराइन से-

'का हो ठकुराइन, का है,
आज तो बहुत लहरदार टिकुली ठॉसे निकली हो।'

तिवारी- वैद्य से-

'दहेज की तो हमसे बात ही मत कीजिए
जो प्रथा समाज को डुबोय दे रही हो
उसे तो हम दूर से ही नमस्कार करते हैं।'

गुंजा-ओंकार से-

'कोहबर का द्वार येसे ही नहीं लांघ पाओगे पहुना,
यहां द्वार पढ़ना पड़ता है
कोई दोहा, कवित्त या सवैया सुनाना पड़ेगा।'

चंदन-रूपा से-

'अरे भउजी नेकी और पूँछ-पूँछ,
हमारा ब्याह करा दो भउजी,
जिन्दगी भर तुम्हारे गुलाम बने रहेंगे
तुम्हारे पाँव धो-धोकर पीयेंगे,तुम जो कहो करेंगे।

वैद्य-गुंजा से-

'हम तुम्हारे दुश्मन नहीं है बिटिया, बाप हैं,
और अब इस बाप की इज्जत तुम्हारे हाथ में है,
बारात दरवाजे पर आकर खड़ी है बिटिया।'

इन संवादों में गांवों में घटित होने वाली घटनाओं के शब्द हैं, कोई बनावटीपन नहीं है। फिल्म में कहावत, पहेली, मुकरी, दोहा, लोकोक्ति का भी प्रयोग है जो इसे लोक के और करीब लाती है। पहेली का उदाहरण द्रष्टव्य है-

1. एक नारी के दऊ है बालक
दूनों एक हैं रंग,
एक चले एक ठाढ़ रहे,
फिर भी दोनों संग।'..
बूझो क्या- चक्की

2. नदी के भीतर नाव
नाव के भीतर नदी....
बूझो क्या-' आँख

फिल्म में आये बतकुचनी, सहूर, सूप खरहरा, लग्गी, लचक, झगड़ा, कोहबर, गुल्लक, लहरदार, टिकुली, जनम घुट्टी जैसे शब्द देशज शब्द हैं, जिनके प्रयोग से फिल्म और भी यथार्थपरक लगती है।

उपसंहार

जिस भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता का दावा करते हुए गर्व से सीना फुलाए हम इतराते रहते है वो कोई और नहीं हमारा लोकजीवन लोक संस्कृति ही है। सरलता और सहजता में विश्वास करने वाले जिन लोगों को अनपढ़ गंवार कह कर ख़ारिज किया जाता है उन्हें ही प्रकृति का सबसे ज्यादा स्नेह और दुलार मिलता है, वही हमारी प्रकृति के सबसे ज्यादा संरक्षक है। प्रकृति की गोद में बसे भोले-भाले इन गाँव वालों के लोकगीत, संगीत, नृत्य में अन्नदात्री धरा विभिन्न फल प्रदायिनी प्रकृति के गुणों का बखान रहता है। मानव द्वारा प्रकृति के अंधाधुंध दोहन से उपजा संकट भयावह रूप लेता जा रहा है, प्राकृतिक आपदाओं में बढ़ोत्तरी हो रही है, जलवायु में गैरजरूरी परिवर्तन हो रहें हैं ऐसे में लोक हमारे लिए ग्रहणीय और अनुकरणीय है जहाँ प्रकृति अपने कल्याणकारी रूप में विद्यमान है।

लोकजीवन कलाओं के लिए सबसे रुचि का विषय रहा है, सभी ने लोकजीवन को अपने ढाँचागत स्वरूप मे व्यक्त किया है। साहित्य (हिंदी साहित्य) जहाँ पर लोकजीवन की सबसे सशक्त अभिव्यक्ति होती शिष्टता के व्यामोह के चलते वो लोकजीवन से दूर होता चला गया, लोकजीवन उससे बहुत पीछे छूट गया। रेणु जैसे दो- एक रचनाकारों को छोड़ दिया जाए तो लगभग सभी ने लोकजीवन की ऊपरी पड़ताल ही की, उसकी गहराई में जाकर उसके अमूल्य मणियों को निकालने का यत्न नहीं किया, वहीं सिनेमा (हिंदी सिनेमा) ने अपने शैशवकाल से ही लोकजीवन को सबसे ज्यादा (अपनेफिल्मों में) प्रमुखता दी है। लोकसंस्कृति सभ्यता की अभिव्यक्ति रही हो या लोक नायकों के जीवन को अभिव्यक्त करने का प्रश्न रहा हो सिनेमा ने सभी को समग्रता में चित्रित, छायांकित करने का कार्य किया है। इसने न सिर्फ लोक के रंजनकारी पक्ष को दिखाया अपितु लोकजीवन की समस्याओं उसकी दुरूहताओं को भी पर्दे पर प्रश्न बनाकर खड़ा किया। तंगहाली, दिक्कत, गरीबी, धार्मिक आडंबर की जटिलता के बावजूद लोकजीवन जिन मानवीय मूल्यों का वाहक रहा है उसे अपने तरीके से सिनेमा ने दिखाया है। भारतीय समाज के लोकजीवन की अभिव्यक्ति यद्यपि सिनेमा में साहित्य की अपेक्षा अधिक रही है फिर भी सिनेमा का जनतंत्र लोक के उद्दात्ता, संघर्ष, जटिलता व द्वंदात्मक चित्रण/प्रदर्शन से काफी हद तक वंचित भी रहा है।

मदर इंडिया जैसी लोक की अमर चित्रपटी ने न केवल एक ग्रामीण भारतीय स्त्री के संघर्ष और जज्बे को सलाम किया है अपितु गाँव के खेत-खलिहान, पर्व-त्योहार, गीत-संगीत-नृत्य, ब्याह-गवना, गाय, बैल, तल-तलैया, पेड़-पौधे, फसल की कटाई मड़ाई, जुताई-

बुवाई, चौका-बरतन तक को सूक्ष्मता से दिखलाया भी है। लोक के सारे रंग इस फिल्म में उभरकर सामने आते हैं। राधा के जीवन संघर्षों के साथ साथ गाँव वालों के भी संघर्षों को यह फिल्म अगर दिखाती तो इसका जुड़ाव लोकमानस से और अच्छी तरह होता।

चकाचौंध की इस दुनिया में जहाँ प्रेम आज स्वार्थ और वासना का परिचायक हो गया है वहाँ भोले-भाले गाड़ीवान हीरामन और नौटंकी की बाई हीराबाई के बीच के निश्छल प्रेम को फिल्म 'तीसरी कसम' में देखा जा सकता है जहाँ प्रेम स्वार्थ और अहं को तिलांजलि देने का नाम है, हीरामन और हीराबाई ही नहीं लोक में बसने वाले तमाम लोगों की ऐसी ही निश्छल और पवित्र प्रेम कहानियाँ है जो गाड़ीवानों के मुँह से गीत का रूप लेकर ग्रामांचलों की पगडंडियों पर फूट पड़ती है। हीरामन और हीराबाई का यात्रा के दौरान सहज विकसित हुआ अनाम रिश्ता नाम पाने की छटपटाहट में ही ख़त्म हो जाता है बिछड़न के बाद स्मृतियों की सिहरन भर रह जाती है। मेला जाते समय समेटे गए कजरी नदी प्रसंग, नटुवा नाच प्रसंग तथा गाँव के छोटे- छोटे बच्चों द्वारा टप्पर के पीछे दौड़ कर गाये गये गीत 'लाली लाली डोलिया...' प्रसंग लोकजीवन के बेहद मार्मिक और सहज बिम्ब हैं जिन्हें फिल्म गहराई से पकड़ सकी है, नौटंकी जैसे उत्तर प्रदेश के लोकनाट्य को फिल्म द्वारा भारतीय जनमानस से परिचय कराना लोक संस्कृति के प्रति निर्माता निर्देशक के अगाध श्रद्धा को प्रकट करता है।

जिस समाज में आज परिवार ही नहीं पति-पत्नी के रिश्तों में दरारें आ चुकी हों वहाँ परिवार के बने रहने के लिए अपने प्रेम, चाहत को आत्मोत्सर्ग करने वाले चरित्रों को हम 'नदिया के पार' फिल्म में देख सकते हैं, वहाँ परिवार के बने रहने के लिए अपने प्रेम चाहत को आत्मोत्सर्ग करने वाले चरित्रों को हम इस फिल्म में देखते हैं। यह पूरी फिल्म लोक के रंग में रंगी है। फिल्म मे जहाँ सोहर, विवाह गीत, ग्रामदेवी की मनौती के गीत और प्रसिद्ध लोक पर्व होली के अवसर पर गाये जाने वाले फाग गीत का सुंदर दृश्यांकन हुआ है वही पर संवादों में अवधी,भोजपुरी जैसे क्षेत्रीय बोलियों के शब्दों का प्रयोग फिल्म को लोक सापेक्ष बनाता है। फिल्म की कहानी ग्रामीण परिवेश के और भी पहलुओं से जुड़ पाती तो फिल्म और भी सशक्त हो जाती।

जहां इन फिल्मों मे लोकजीवन, संस्कृति,गीत, संगीत के संरक्षण और संचयन का काम किया वहीं आज शहरी कृत्रिमता के फैलाव और पैसे की अनकूत इच्छा के चलते फिल्मों का व्यसायीकरण हो गया है। इस समय फिल्मों का उद्देश्य मात्र पैसा कमाना रह गया है,आज की फिल्मों से गाँव एवं क्षेत्रीय समस्याओं का गायब होना बहुत चिंतनीय है। फिल्म

उच्च वर्गीय घरों ,उद्योगपतियों, पूँजीपतियों के जीवन के इर्द गिर्द घूमकर ही रह गई हैं, जिस देश की आबादी अस्सी प्रतिशत लोग गाँव मे रहने वाले किसान मजदूर हों वहाँ पर निर्मित होने वाली फिल्मों का लोक के प्रति उदासीन होना बहुत खलता है। फिल्में जो आम आदमी की बिलकुल पहुँच में है उनके द्वारा निम्नवर्गीय या मध्यवर्गीय लोगों के समस्याओं को पर्दे विषय न बनाया जाना सिनेमा को कटघरे में खड़ा करता है। एक दौर था जब हिंदी सिनेमा ने ग्रामीण परिवेश, ग्रामीण समस्याओं को लेकर फिल्मों का निर्माण किया था जिसका प्रभाव समाज के साथ सरकार पर भी पड़ा था।

सिनेमा को मात्र मनोरंजन तक सीमित करके उसको उसके लक्ष्य से हटाने में सरकार और पूँजीपतियों दोनों का हाथ है जिससे उनकी सत्ता बनी रहे लेकिन सिनेमा को अपना पूर्ण स्वरूप पहचानना होगा और लोक समाज के प्रश्नों की मुखर अभिव्यक्ति करनी होगी। पिछले दो-एक वर्षों मे ग्रामीण परिवेश से संघर्ष करके आए निर्देशकों के प्रयासों को सराहना अनिवार्य हो जाता है जिंहोने धन पशुओं के बीच में अपनी जगह बनाकर लोक की समस्याओं, सरोंकारों को फिर से उठाना शुरू किया है। आशा है कि इस तरह के निर्देशकों की तादाद बढ़ेगी जो लोकजीवन के विभिन्न रंगों को पर्दे पर जीवंत करते रहेंगे।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अग्रवाल, प्रह्लाद, कवि शैलेंद्र- जिंदगी की जीत में यकीन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण -2005
2. इन सायक्लोपीडिया ब्रितानिका, लंदन, भाग- 4
3. उपाध्याय, कृष्णदेव, लोक साहित्य की भूमिका, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, संस्करण-2008
4. उपाध्याय, राम नारायण, लोक साहित्य समग्र, हिन्दी प्रचार पब्लिकेशन प्रा.लि., वाराणसी, प्रथम संस्काण-1997
5. कुमार हरीश, सिनेमा और साहित्य, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2012
6. चढ़ढ़ा, मनमोहन, हिन्दी सिनेमा का इतिहास, सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1990
7. जैन, शांति, लोक-गीतों के संदर्भ और आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण-1997
8. दइया, पीयूष (संपा), लोक, भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर, प्रथम संस्करण-2002
9. दुबे, विवेक, हिन्दी साहित्य और सिनेमा, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009
10. दुबे, श्याम सुंदर, लोक-परंपरा पहचान एवं प्रवाह, राधा-कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2004
11. द्विवेदी, देव नारायण(संपा), घाघ भट्टरी, पिलग्रिम्स पब्लिशिंग, वाराणसी, प्रथम संस्करण-2006
12. पारख, जवरीमल्ल, हिन्दी सिनेमा का समाजशास्त्र, शिल्पी प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006
13. प्रसाद, कमला, फिल्म का सौन्दर्यशास्त्र और भारतीय सिनेमा, शिल्पायन, दिल्ली, संकरण-2010
14. प्रसाद, दिनेश्वर, लोक-साहित्य और संस्कृति, जयभारती प्रकाशन, इलाहबाद, द्वितीय संस्करण-2007

15. बाहरी, हरदेव, हिन्दी शब्द कोश, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, तेरहवाँ संस्करण-1999
16. भारद्वाज, विनोद, सिनेमा कल आज कल , वाणी प्रकाशण, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006
17. मिश्र, विद्यानिवास, लोक और लोक स्वर, प्रभात प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण-2000
18. मृत्युंजय (संपा), सिनेमा के सौ बरस, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2008
19. रामकृष्ण, फिल्मी जगत में अर्धशती का रोमांच, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2006
20. वर्मा, धीरेंद्र (संपा), हिन्दी साहित्य कोश, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, संस्करण-2000
21. शर्मा, हरद्वारी लाल, लोक-वार्ता विज्ञान, खंड-एक, दो, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण-1990
22. सत्यार्थी, देवेंद्र, धरती गाती है, हंसराज, प्रकाशन, दिल्ली, सन 1951

पत्र-पत्रिकाएँ

1. ओझा, सीमा (संपा), आजकल (सिनेमा के सौ बरस), आजकल प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, अक्टूबर2012 -
2. कुमार, मनोज (संपा), समागम (सिनेमा सौ साल), शिवाजी नगर, भोपाल-16, अंक-1, फरवरी-2012
3. दिवेदी, अशोक (संपा), पाती (लोक संकृति/साहित्य अंक) दिसंबर-1995, अंक-14-15, बलिया
4. नागर, विष्णु (संपा), शुक्रवार (फिल्म विशेषांक), नोएडा, अंक-52, 27 अप्रैल से 3 मई, 2012
5. प्रसाद, कमला(संपा), वसुधा, निरालानगर, भोपाल, सिनेमा विशेषांक-2012
6. यादव, कालीचरन(संपा), मड़ई (99), अंक-1, वर्ष-1, विलासपुर

7. यादव, राजेन्द्र (संपा), हंस (हिन्दी सिनेमा के सौ साल), अक्षरा प्रकाशन, नई दिल्ली, अंक-7, फरवरी-2013

8. राय, ऋत्विक (संपा), लमही (सिनेमा विशेषांक), विवेक खंड, लखनऊ, अंक-1, जुलाई-सितंबर 2012

9. वर्मा, रामकुमार (संपा), हिंदुस्तानी (संस्कृति अंक-लोक), जुलाई1984-दिसंबर-, अंक3-,4, भाग4-,5, इलाहाबाद

10. सिंह, रामधारी 'दिवाकर'(संपा), परिषद पत्रिका (संस्कृति अंक-लोक), अप्रैल 1997 -से मार्च1998 -,अंक4-1-, पटना

वेबसाइट

www.wikpidiya.com

www.hindcinema.com

www.hindigaane.com

www.pksongs.com